स्वामी श्री भगवत्स्वरूपाचार्य 'भास्कर'

मन में राम हाथ में पत्थर

प्रवक्ता

स्वामी श्री भगवत्स्वरूपाचार्य 'भास्कर'

सम्पादक

डॉ० कमलाकान्त त्रिपाठी

प्रकाशक :— आचार्य अनिरुद्ध चतुर्वेदी
पी. १/२ रवीन्द्रपुरी लेन नं. ११
वाराणसी (उ०प्र०)

पुस्तक का नाम :—"मन में राम, हाथ में पत्थर"

प्रवक्ता :— स्वामी श्री भगवत्स्वरूपाचार्य 'भास्कर'
(श्री चारुशीला कुञ्ज, जानकीकुण्ड,
श्री चित्रकूट, बाँदा (उ० प्र०)

सम्पादक :— डा० कमलाकान्त त्रिपाठी

मूल्य :—२०.०० रुपये मात्र

प्रथम संस्करण : १०००
वसन्त पञ्चमी, २८ जनवरी, १९९३
वि० सं० २०४९।

मुद्रक :—
विवेक प्रिंटर्स
बी. ३०/१९५ गंगातरंग
नगवा, वाराणसी-५

विषय सूची

काव्य–कण

समर्पण—

विषयों के भोलेपन में भी जिनकी समर्थ—
कृपादृष्टि से भक्ति का वृक्ष फूलता—
फलता रहा उन्हीं सद्गुरुदेव के पाद-रेणुओं में।

—भगवत्स्वरूचार्य 'भास्कर'

"साधो ! अपना सही ठिकाना।
जा दिन जग की खटपट छाँड़ी मिला राम का बाना।
राम-राम कहि राम समाना मस्त प्रेम-परवाना।
मन में राम हाथ में पत्थर भया फकीर दीवाना।
जौ 'सरूप' कोऊ कछु पूछै कहै इहाँ नहिं आना।।
साधो ! अपना सही ठिकाना।

—पूज्यपाद-वीतराग-रसराजसिद्ध-साकेतवासी-सद्गुरुदेव-
—स्वामी श्री रामस्वरूपदासजी परमहंस (चित्रकूटवाले)

सम्पादकीय

प्रपन्नों के विशेष आग्रह से गुर्जरप्रान्तान्तर्गत भरुच में स्वामि श्रीभगवत्स्वरूपाचार्य 'भास्कर' जी का दशदिवसीय अध्यात्मप्रवचन हुआ था जिसमें स्वामीजी ने 'मन' के ऊपर ही सार-गर्भित प्रकाश डाला था। उस प्रवचन को उसी समय कुछ भक्तों ने टेप कर लिया था। तत्पश्चात् काशी आने पर उसे प्रकाशित करने का आग्रह भक्तों ने ही किया जिसे स्वीकार कर स्वामीजी ने सम्पादन का भार मुझे ही सौंपा। यद्यपि स्वामीजी अपनी काव्य-रचना 'क्रांति पाथेय' पूर्व प्रकाशित करना चाहते थे लेकिन प्रपन्नजनों की उत्कण्ठा ने उक्त प्रवचन-भाग को ही प्रकाशित करने के लिए उन्हें विवश किया। इस ग्रन्थ का नाम उन्होंने 'मन में राम हाथ में पत्थर' रखा जो उनके गुरुजी के द्वारा गेय पद्य का ही एक अंश है। इसमें प्रत्येक प्रवचनों को 'मन ऐसा निर्मल भया', 'मन बौरा मानै नहीं', 'अब मैं समझा मन की चाल' आदि शीर्षकों में विभक्त कर दिया गया है जिनका यथानुरूप तारतम्य भी है। अस्तु। ग्रन्थ की शास्त्रानुकूल व्याख्यात्मक शैली से ही हम स्वामीजी की विमलमति का अनुमान कर ले रहे हैं। किसी भी पुरुष की मति का परीक्षण उसकी वाणी से ही हो जाता है। जो जितना ही उदार-मना साधन-सम्पन्न होगा उसकी वाणी में उतनी ही सहजता एवम् सारगर्भिता समाविष्ट हो जाती है। महाकवि भारवि का यह कथन यहाँ पर सटीक बैठता है—

"अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते॥"

अर्थात् हृदयग्राही मनोरम श्रेयस्कर प्रमाण-बाध से रहित वाणी के विस्तार में मति का वैशद्य वैसे ही झलक रहा है जैसे बाह्यमल-

संक्रम से रहित मङ्गल का वस्तु होने से श्रेयस्कर मनोरम दर्पण में चेहरे का वैशद्य झलकता है। यहाँ पर मैं यह साफ-साफ कह देना चाहूंगा कि इस ग्रन्थ में सर्वत्र स्वामीजी का भगवदेकतापन्न समरसता और सहजता से सम्पृक्त मन ही संक्रम कर रहा है जिनके द्वारा आप्तपुरुषों की प्रमाणाबाधित वाणी स्वीकार की गयी है और कपटजालावृत तथाकथित पाखण्डियों की वाणी को दुत्कारा भी गया है। सर्वथा शास्त्रीय और अनुभूत वचनरत्नों को एकत्र पिरोया गया है। 'मन में राम हाथ में पत्थर' यह वाक्य अपने में एक व्यापक अर्थ को लिए हुए है। मन संसार का कारण तभी तक है जबतक उसमें राम का समावेश नहीं होता। राम अर्थात् एकमात्र पारमार्थिक सत्ता। चाहे उत्तरतन्त्र के अद्वैत को लें या चाहे पूर्वतन्त्र की द्वैतप्रक्रिया को लें, दोनों ही अवस्था में राम ही एकमात्र सर्वाधिष्ठातृरूपेण सिद्ध होते हैं। अद्वैत की प्रक्रिया में आत्मा की एकमात्र पारमार्थिक सत्ता का कोई अपलाप नहीं कर सकता। आत्मा की उस पारमार्थिक सत्ता का ही अपरनाम है राम'। द्वैत-प्रक्रिया में भी राम ही सबकुछ हैं क्योंकि चराचर जगत् के वे राजा हैं। 'राजा रामचन्द्र' यह उद्घोष सर्वविदित ही है। जैसे किसी देश का प्रधान ही सब कुछ हुआ करता है, दूसरा कोई कुछ भी नहीं। आज प्रजातन्त्र का जमाना है। कहने को तो प्रजा ही मालिक है, प्रधानमन्त्री तो उसका नौकर मात्र है लेकिन क्या ऐसा व्यवहार में देखा जाता है? कदापि नहीं। प्रधानमन्त्री प्रजा के अभिलाषाङ्कुर को ध्वस्त करके कार्य कर सकता है। कौन होती है प्रजा? प्रधान तो वह है। ठीक वैसे ही चराचर जगत् के सर्वेसर्वा राजा रामचन्द्र ही हैं। राजा का व्यक्ति राजतुल्य हो जाता है। इसलिए उसे 'राजा' भी कह दिया जाता है। ऐसा दृष्टान्त भी उपलब्ध होता है—राजनि राजपुरुषेषु च गच्छत्सु राजानः गच्छन्ति इति। राजा और राजपुरुषों के जाने पर राजा लोग जा रहे हैं। इसी तरह मन का रामसङ्गि होना

राम ही हो जाना है। मन राम का तब तक नहीं हो सकता जब तक उसमें वैसा होने की योग्यता न पैदा हो जाय। वैसी योग्यता उसमें उसकी निर्मलता से आती है। मन निर्मल भया कि राम का हुआ। अद्वैत की दृष्टि में मन है तो संसार है। मन नहीं तो कुछ भी नहीं। 'मन में राम' का अभिप्राय है 'मन में राम का तादात्म्य अर्थात् जीवत्व का विगलन। सादि मन की सत्ता का आत्यन्तिक नाश। उसका आत्यन्तिक नाश हो राम हो जाना है। स्वस्वरूपापन्न हो जाना है। मन सादि है, यह बात 'तन्मनोऽसृजत' इस श्रौत वचन से ज्ञात होती है। तत्सादित्व से उसके सावयवत्व की भी बात पुष्ट हो जाती है। मनः सावयवम् सादित्वात्। जो सावयव है उसका नाश होगा ही। कैसे होगा? इसका पता इस ग्रन्थ से ही चल जायेगा। अब आती है बात 'हाथ में पत्थर' की। भगवान् शङ्कराचार्यजी महाराज कहते हैं कि नित्य नैमित्तिक कर्मों के करने से तथा काम्यकर्मों के अकरण से सुकृत-दुष्कृतरूप अदृष्ट के अभाव में जन्माग्रहणरूप अपवर्ग संभव नहीं है, क्योंकि अनादिवासना के कुछ सूक्ष्म से सूक्ष्मतर ऐसे संस्कार होते हैं जिनका ध्वंस कर्मों से संभव नहीं। ज्ञानाग्नि से ही उनका ध्वंस हो सकता है। अभिप्राय यही है कि असांसारिकता की स्थिति तक पहुंचने पर भी पुनः संसार में आने की संभावना बनी रहती है। संसार से ऊबा हुआ प्राणी जब संसार से विरत होता है तो सांसारिकों की लाइन लगने लगती है जिससे एकान्त-भङ्ग होने की संभावना दृढ़ हो जाती है। ऐसा साधक हाथ में पत्थर उठा लेता है ताकि कोई उसके पास न फटकने पाये। ठीक वैसे ही मन के रामस्थानापन्न होने पर भी पुनः उसे अपनी दुनिया बना लेने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसके लिए बुद्धिरूपी हाथ में ज्ञानरूपी पत्थर का होना अनिवार्य है ताकि राम की पारमार्थिक सत्ता के आगे कोई और सत्ता न पनप सके। इस ग्रन्थ के रहस्य को समझने के लिए यह दिग्दर्शन मात्र है। स्वामीजी ने विस्तार

से विवेचन किया ही है। इसके विषय में आगे लिखना उचित नहीं। स्वामीजी महाराज आज के युग में गणमान्य कविचक्रवर्ती हैं। उनकी कविता में सर्वत्र रस-भाव का उत्स फूट पड़ता है। सहृदयों के लिए यह परम हर्ष का विषय होना चाहिए कि पर्यन्त में कुछ फुटकर उनकी रचनायें भी प्रकाशित की जा रही हैं। कुछ कवितायें उनकी दृग्रुपसी खण्डकाव्य से ली गयी हैं जिसे उन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में लिखा था। दुर्भाग्य की बात ही है कि वह काव्यरत्न कहीं खो गया। जितने स्मृति-पटल में आये उतने ही पद्य प्रकाशित हो रहे हैं। उक्त काव्य में शृंगार की सहज अभिव्यक्ति होती है। अन्य रचनायें भक्ति-भागीरथी से उद्धृत हैं जो स्वामीजी की स्फुट रचनायें हैं। भक्ति के अजस्र प्रवाह के साथ-साथ उनमें अजस्र प्रेरणा का सारस्वत स्रोत भी है जो निराश चिन्तकों के लिए प्रेरणाप्रद होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

आगे उन सभी भगवज्जनों को साधुवाद जिनकी जिज्ञासा से यह ग्रन्थ-रत्न प्रकाश में आ रहा है। मैं प्रकाशक श्री अनिरुद्ध चतुर्वेदीजी का भी आभारी हूं जिन्होंने प्रकाशन का दायित्व संभालते हुए प्रूफ-संशोधनादि के द्वारा मेरा भूयान् उपकार किया है। मुद्रक श्री राजेन्द्र त्रिपाठी जी को भी साधुवाद प्रदान करुँगा जिन्होंने तत्परता और एकनिष्ठता से मुद्रण का कार्य सम्पन्न किया। यद्यपि मुद्रण की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया गया है तथापि यदि कहीं मानवसुलभ त्रुटि हो तो मैं सहृदयजनों से विनम्र प्रार्थी हूँ कि वे मुझे क्षमा करें।

—कमलाकान्त त्रिपाठी

मन कहाँ है ?

व्यासपीठ पर एक परमहंस बैठे थे। सामने स्त्री-पुरुषों की काफी भीड़ थी। प्रवचन का समय हो गया था, किन्तु परमहंसजी अभी बोल नहीं रहे थे। वे लोगों को देख रहे थे तथा लोग उनकी तरफ देख रहे थे। चारों ओर थोड़ी चहल-पहल थी, बाद में सन्नाटा छा गया, फिर भी परमहंसजी अभी मौन ही बैठे रहे। श्रोताओं में से एक व्यक्ति उठकर खड़ा हुआ और बोला, स्वामी जी ! आप बोलते क्यों नहीं, कोई कमी रह गयी है क्या; या किसी की प्रतीक्षा है ? परमहंस जी ने सिर उठाया और थोड़ा गम्भीर स्वर में कहा—आप सब ने हमें इतने ऊँचे सिंहासन पर बैठा दिया है, तथा मेरे में अपना मन भी लगा दिया है, किन्तु इतनी ऊँचाई पर बैठे हुए मैं सोच रहा हूं कि आप सब का मन तो कथा के लिए केन्द्रित हो गया है किन्तु मेरा मन कहाँ है ? मैं तो उसे खोज रहा हूं। कहीं वह मेरे लेवेल से नीचे तो नहीं है ? ऊपर हो तो कोई हानि नहीं किन्तु ऊँचे व्यक्ति का मन यदि नीचे आ जाय तो उसका पतन होना सुनिश्चित है।

मानव का मन अपने आप में एक विलक्षण वस्तु है। वह है भी, और नहीं भी है, किन्तु है बड़ा जीवन्त और प्रभावकारी। सागर के सरफेस पर उठने वाला बुदबुद कितना अस्थायी है किन्तु समुद्र को एक नई परिभाषा देने में सक्षम है। वह बुदबुद वाला समुद्र कहलाता है, कि उसमें नदियों का तेज प्रवाह समाया हुआ है। गंगा जब समुद्र से मिलती है तो समुद्र फेन व बुदबुदों से भर जाता है। और वही किसी नये आगमन का ज्ञापक होता है। यह मन भी कभी बुदबुद तो कभी फेन पैदा करता है। क्योंकि आत्मा में संसार के प्रवेश का द्वार मन ही है। संसार मन के द्वारा ही अपने स्वरूप

में प्रवेश करता है। और जगत ने प्रवेश किया कि बुदबुद उठा। यही बुदबुद ही तो राग है। पूरी निर्मलता पलभर में रँग जाती है। जिन्दगी कुछ असरदार होने लगती है। अस्तित्व अपने आप में संकुचित होने लगता है। रंगी हुई आत्मा जरूर अपनी सीमा का बोध कराती है।…कि बस। मैं इतना ही हूं। जो असीम था वह ससीम हो जाता है। आरम्भ में यह पुरुष विराट ही था किन्तु मन ने उसे अणु बनाया; उसकी गम्भीरता हल्केपन में बदल गयी। वह अणु होकर आह्लाद की कक्षाएँ तय करने लगा। राउण्डिंग करने लगा वह। इलेक्ट्रान की तरह। यहीं से उसकी खुशी चन्द्रमा बन गयी। '**चन्द्रमा मनसो जातः**'। मगर आह्लाद यदि चन्द्रमा बन जाय तो वह जरूर क्षय रोगी होगा। एक पक्ष में बढ़ेगा तो एक पक्ष में घटेगा। पूरी जिन्दगी पक्ष वाली हो जायेगी। उसका हर निर्णय पक्षपातपूर्ण हो जायेगा। पक्ष का निर्माण चन्द्रमा ने किया तथा उसमें अनुमापक रातें बनी। वस्तुतः जिन्दगी में पक्ष और विपक्ष रात यानी अज्ञान में ही बनता है, और वह आदमी की खुशी के घटने व बढ़ने से होता है।

मन की खुशी जब घटती है तो विपक्ष बनता है, वादविवाद बढ़ता है, तर्क-वितर्क बढ़ता है। मन की खुशी जब बढ़ती है तो प्रेम का पक्ष बढ़ता है श्रद्धा विश्वास के सिद्धान्त अडिग होते हैं। श्रद्धा भी एक प्रसन्न व्यक्ति की ही स्थायी होती है, दुःख में तो श्रद्धा के डिगने का भय होता है। लेकिन यह मन सरकने वाला है। फिसलता बहुत जल्दी है। मन पर कभी विश्वास मत करना वरना बहुत जल्द पाँव लड़खड़ा जायेगा। मन की ढलान से गिरा हुआ आदमी कई जन्मों में उठ पाता है, अगर कोई उठाने वाला मिल गया तो, वरना परमात्मा ही जाने। हिमालय के दुर्गम नारायण तीर्थ में यदि पहुंचना है तो मन की बर्फीली घाटी जरूर पार करनी होगी चाहे वह खच्चर से ही क्यों न पार करनी पड़े। साधना की सिलहली घाटी में चींटी के पाँव फिसल जाते हैं, सूक्ष्म

से सूक्ष्म तत्व का अभ्यासी भी चित्त के चिकनेपन में फिसल जाता है। लेकिन संयम की कठोर धरती पर चलने वाला जीवन की कठिन परीक्षा में पास हुआ साधक चाहे वह खच्चर जैसा ही हो, स्वयं को क्या दूसरों को भी पार कर देता है। मन एक ऐसा सोना है कि संयम की खराद पर चढ़ाये बिना उसमें चमक नहीं आती। उसमें बल और तेजस्विता नहीं आती, वह साधना के कुरुक्षेत्र में महारथी बनकर खड़ा नहीं हो सकता। बिखर जायेगा, भटक जायेगा वह। प्रतिपल उफनती मचलती कभी धीमी शान्त तो कभी उन्मत्त वेग में बहती जिन्दगी की नदी में यदि मस्ती लेकर तैरना है या पार होना है सुरक्षित, तो मन की नाव में लदे हुए हजारों मन के विकारों के पत्थर उतार कर फेंकने पड़ेंगे वरना नाव किनारे से थोड़ी दूर चलकर भी डूब जायेगी। पूरी यात्रा नर्क हो जायेगी।

मन डुबाता भी है, मन तैराता भी है। वजनी मन, पत्थर हुआ मन डुबाता है, लेकिन हलका मन, निर्मल मन पार करता है। रामायण में आता है कि अहल्या पत्थर हो गयी थी। वासना का हिमांक बहुत अल्प है तो प्रेम का क्वथनांक बहुत कम है। वासना जागी कि जम गयी पूरी अस्तिता, जम गया पूरा भाव तथा पत्थर हो गयी पूरी बुद्धि। पत्थर पर यदि तेज आँच दी जाय तो वह पहले चटाक से टूटेगा और एक बिजली की तरह चमक उठेगा पूरा वातावरण तथा नवीन चेतना का प्रस्फुरण होगा। जड़ीभूत अहल्या का मन भगवान श्रीराम के तेजोमय विग्रह का स्पर्श पाकर पिघल गया। बह गया सारा कल्मष, उसके प्रेम का क्वथनांक जल्दी ही प्रकट हो गया। निर्मल हो गया उसका समग्र-भाव मन निर्मल हो जाए तो एकाग्र होने में देर नहीं लगती। और एकाग्र मन दुनिया का सबसे शक्तिशालो पदार्थ है। वह सृष्टि पालन व लय भी कर सकता है। आधुनिक विज्ञान ने एटमबम को शक्तिशाली बताया किन्तु वह भी तो किसी व्यक्ति के मन की घोर

एकाग्रता का परिणाम है। एक रसायन शास्त्र के वैज्ञानिक हैं; वे एक बार एक आम्लिक प्रयोग कर रहे थे। नयी एसिड का आविष्कार करना था, चिन्तन चल रहा था। एसिड का स्वाद बड़ा कषैला होगा। यह सोचते-सोचते उनकी जीभ खट्टी हो गयी तथा वे बड़े परेशान हुए वह परेशानी तब तक रही जब तक उस एसिड का नया फार्म बन नहीं गया। मन की घोर एकाग्रता उस गुह्य वस्तु को प्रकट कर देती है जो सामान्यावस्था में दिखता नहीं। एटमबम यदि कार्य है तो मन की एकाग्रता कारण है। कार्य की शक्ति कारण में निहित होती है। यह त्रैकालिक सत्य है। मन्दाकिनी नदी के किनारे एक अत्यन्त दुबले-पतले संत घूम रहे थे। लगता था, अभी-अभी गिर पड़ेंगे। और वे एक स्थल पर किनारे बैठे भी तो कमजोरी से कुछ मूर्च्छित भी हो गये। मैं दौड़कर पास गया और उठाया। दुग्ध मँगाकर पिलाया तो वे कुछ आश्वस्त होकर बैठे लेकिन उनके मन पर तनिक भी म्लानता नहीं थी। वे मुस्कुरा रहे थे। पूछा ! आपने मुझे क्यों उठाया ? मैंने कहा—महाराज ! आप मूर्च्छित थे मुझे कुछ अनिष्ट की आशंका हुयी। अतः दौड़ा आया। उन्होंने एक बड़ी आश्चर्यजनक बात कह दी। कहा—आत्मा का अनिष्ट कभी नहीं होता अगर मन पूरे वश में हो। पहले तो मेरी समझ में बात बैठी नहीं। उन्होंने अपनी बात आगे बढ़ाया। आप कितनी बेहोशियों में दौड़ेंगे। अभी तो मैं दस दिन से इसी जंगल में बेहोशी में पड़ा था किन्तु अनिष्ट नहीं हुआ। क्योंकि मैंने मन को पकड़ रखा है अतः तुम चिन्ता छोड़ दो और राम-राम करो। यह कहकर वे उसी नदी के किनारे मस्ती में लेट गये और शून्य गगन की ओर पुलकित होकर देखने लगे।

दूसरे दिन मैं फिर उनके पास पहुंचा तो कुछ संत उनसे ठिठोली कर रहे थे तथा वे हँस रहे थे। मसखरी करते हुए एक संत ने उनकी तुलसी की माला नदी के प्रवाह में डाल दी और वह बड़े वेग से बह चली, किन्तु उस महात्मा ने माला की ओर देखा

तो वह रुक गयी तथा धारा की विपरीत दिशा में बहकर उनके पास आ गयी। उन्होंने उसे ले लिया। फिर उन्होंने मजाक में कहा कि दीनानाथ ! वह माला हमारी बात मानती है। मैंने जब एकान्त में उनसे इसकी चर्चा की तो वे बोले—कि यदि मन पर काबू हो जाय तो यदि कह दो कि गंगा रुक जा तो वह रुक जाएगी, हिमालय तू टूट जा तो वह टूट जाएगा। एकाग्र मन की शक्ति दुनिया की हर शक्ति से बढ़कर होती है। आदमी उस मन को समझे तो सही। आज दुनिया का बिखराव इसीलिए है कि मन बिखर गया है व्यक्ति अपने लक्ष्य से इसीलिए फिसल गया है कि उसका मन सही रास्ते से फिसल गया है।

मन का सही रास्ता क्या है

मन का सही रास्ता क्या है ? रास्ता सही हो तो लक्ष्य की प्राप्ति दूर नहीं रहती। आदमी सही रास्ता उसे कहता है जिस पर चलकर उसका नुकसान न हो, और उसे उसका इष्ट प्राप्त हो जाय। किन्तु यह दृष्टि मन के सत्य पथ का निर्णय नहीं कर सकती क्योंकि शरीर के किसी कोने में या ब्रह्माण्ड के किसी भी कोने में मन की गति सरल व सहज है, तथा उसका कोई नुकसान भी नहीं है। क्योंकि मन के सही या गलत पथ में जाने से मन तो सन्तुष्ट होगा, नुकसान या लाभ तो मन का धर्म नहीं। आदर्शवादी ताल ठोंक कर कहते हैं कि मन यदि विषयों में से चला जाय तो उसका पतन क्यों नहीं है। मन यदि नर्क में चला जाय तो उसका नुकसान क्यों नहीं है किन्तु यह बात बिल्कुल भोले बच्चों जैसी है। यदि राह चलते हुए कोई गिर गया तो पाँव का क्या नुकसान हुआ। पाँव तो मजे में बैठा ही है। नुकसान तो पाँव वाले का हुआ। मन की हर दिशा में अबाध गति है। क्योंकि वह सूक्ष्म है। महल में प्रवेश कराने के लिए उसे गेट बनाने की जरूरत नहीं है और उसका रास्ता रोकने वाला भी कोई नहीं है। योग और समाधियाँ थोड़ी देर के लिए मन की सहज गति में अवरोध बनती हैं किन्तु पुनः मन अव्याहत हो जाता है। जैसे अपने चंचल बालक से तंग आकर कोई माता थोड़ी देर के लिए उसे धाय के सुपुर्द करके स्वयं लॉन घूमने चली जाय किन्तु घर में आते ही वह बालक अपनी व धाय सम्बन्धिनी समस्या भी माँ से कहता है और माँ दूसरे कष्ट में फँस जाती है। या उद्दण्ड बच्चे को थोड़ी देर डाँट कर या तमाचे लगा-कर चुप कर दे। लेकिन कब तक वह डाँट खाकर चुप रह सकेगा। फिर तो वह फुसलायेगा और तंग करेगा।

मन बिल्कुल भोला बच्चा है। बड़ा लाड़ला है वह। एक जंगल में एक नवयुवक त्यागी गया। उसने एक कुटी बना ली. कुछ दिन लकड़ियाँ बटोर कर धूनी जलायी। आग के पास बैठकर मंत्र जप करने लगा तथा बड़ी देर तक पद्मासन लगाकर बैठा रहने लगा। गाँव के लोग घर के भार से दबे हुए आते; और महात्मा का दर्शन करते तथा अपना दुःख भूल कर प्रसन्न हो चले जाते। तितिक्षु-पुरुष का दर्शन ही लोक में सत्व गुण का विकास करता है और लोगों की दुःख निवृत्ति का साधन है। एक दिन मैं भी उस नवयुवक त्यागी सन्त के पास गया मैंने योग क्षेम की कुशल पूछी। वह त्यागी कुछ उद्विग्न था तथा उसने साधुतापूर्वक मानव-जीवन की एक बहुत सच्ची बात बता दी। उसने कहा—स्वामीजी ! मेरा मन एक दुधमुहे बालक की तरह तड़प-तड़प कर रो रहा है जैसे एक छोटा बच्चा क्षुधित होकर दुग्ध के लिए तड़फड़ाता है; वैसे मेरा मन भी भोगों के लिए आकुल-व्याकुल हो रहा है। इसलिए मैं बड़ा पापी हूं। मैंने कहा—महात्मन् ! आप पाप नहीं कर रहे हैं, अपनी असलियत को समझ के निष्कपट भाव से कह देना मन के अगम्यगतिक क्षेत्र में प्रवेश कर लेना है। मन के करीब पहुंचना है। अन्तःकरण के पोर-पोर में गुँथे हुए संस्कारों को गुत्थियाँ खोज-खोजकर खोलना ही अध्यात्म का विज्ञान है। पाप तो उन जमे हुए जगत के गन्दे संस्कारों को उपेक्षित करके उन्हें छिपाने में है। आप अपने मन की तह में पहुंचने वाले हैं साधना जारी रखें। पूर्व संस्कारों के जो-जो चित्र आयें उन्हें मन के पटल पर रखकर समीक्षा करते जाएँ और एक शाश्वत् आनन्द में लीन करने का आश्वासन मन को देकर उसका लाड़ करते रहें। मन है तो चंचल बच्चा; मगर यदि तंग करता है तो वात्सल्य का सुख भी तो देता है। यदि कोई माँ कहती है कि बच्चे मुझे तंग करते हैं; इसलिए पैदा ही नहीं करना है तो वह शिशु के उस वात्सल्य रस का पान कैसे करेगी। यदि दर्पण ही टूट गया तो प्रतिबिम्ब कहाँ बनेगा। यदि मन ही न रहा

तो वह अपना सहज आनन्द, राम कहाँ क्रीड़ा करेगा। कुछ लोग कहते हैं कि अद्वैत दशा में मन बाधक हैं अतः मन का नाश करो, किन्तु वे लोग अधकचरे वेदान्ती है। उन्हें मन की उपयोगिता का पूर्ण ज्ञान ही नहीं है।

संकल्प-विकल्प जहाँ उठता है वही मन है। संकल्प अच्छे भी उठते हैं; और बुरे भी। लहरें उठेंगी तो कभी-कभी उत्थान होगा कभी-कभी गहरा पतन। लेकिन लहर ही न उठे तो इसका मतलब यह तो नहीं कि जल ही नहीं। जल है लेकिन शान्त है। गहराई व्यक्त कर रहा है। किन्तु कभी-कभी यह गहराई भ्रम भी पैदा करती है। यदि लहर ही न उठे तो कोई जल को स्थल समझकर गिर भी सकता है और उसका गिरना पूरे महाभारत को जन्म दे सकता है। जिन्दगी बड़े गहरे ऊहापोहों से भरी है। यह कभी बड़ी अच्छी दिखती है कभी बड़ी खराब। लेकिन त्याज्य नहीं है। मन जीवन का बड़ा कुशल समीक्षक भी है। गन्दगी की कितनी तहें आपके अन्तस् में संस्कार बनकर जमी हैं यह मन बड़ी जल्दी बताता है। किसी कामोद्दीपन को देखकर यदि मन बड़ी जल्दी स्त्री का विशद चिन्तन करने लगे तो समझना चाहिए कि जन्म-जन्मान्तर में काम के गहरे संस्कार जमा हो गये हैं। यदि सामने नंगी स्त्री या अश्लील चित्र देखकर भी मन विचलित न हो तो समझना चाहिए कि मन में पहले से अच्छे संयम के संस्कार हैं। एक बार स्वामी रामतीर्थ जी एक शहर में रहते थे, तब वे साधु-वेष में नहीं आये थे। एक सद्गृहस्थ थे वे। शहर में एक बार वेश्योन्मूलन अभियान चला, सब ने हस्ताक्षर अभियान चलाये। शहर के बड़े-बड़े लोग अपनी दस्तखत बना रहे थे। सभी लोग चाहते थे कि इस शहर का करप्सन दूर हो जाये वेश्याएँ न रहें। लोग रामतीर्थ के पास भी समर्थन में दस्तखत कराने आये तो रामतीर्थ ने पूछा—आप सबको वेश्याओं से नफरत क्यों है ? वे तो बहनें हैं, अच्छा-अच्छा खाती-पहनती हैं। सबसे हँसकर बोल लेती हैं

उनका क्या दोष है। उनकी खुशी से ईर्ष्या क्यों है। वस्तुतः दोष तो अपने मन का है और हम आरोपित करते हैं वेश्याओं पर, शराबखानों पर, विषय सामग्रियों पर। हमारे गन्दे मन के संस्कारों ने ही तो वेश्यालय बनाये। हमें खुद का चरित्र, खुद पर थोपा हुआ नजर आया। स्वच्छन्दता अच्छी लगी और वेश्यालय बन गये। चरित्र अपना बिगड़ा और नाराजी दूसरे पर हुयी। कमी अपनी और क्रोध दूसरे पर। समाज पर, अधर्म पर, भोग पर। एक गाँव में कुछ आलसी रहते थे। उन्होंने घर के बगल में ही शौचादि करना शुरू कर दिया। उनकी देखा-देखी गाँव के दूसरे लोग भी वैसा ही करने लगे और धीरे-धीरे घर के बगल में ही पूरा शौचालय बन गया। अब उन आलसियों की जिन्दगी नर्क हो गयी तो चिल्लाने लगे—यह शौचालय हटाओ नहीं तो बीमारी फैल जायेगी, और सबका समर्थन पाने के लिए हस्ताक्षर अभियान चला दिया तो किसी ने पूछा बाबा—आखिर ये शौचालय बनाये किसने। कौन कारण था ? और जो कारण था, वह आलस्य प्रमाद तो अभी-भी तुम्हारे मन में बैठा है उसे तो हटाते नहीं और शौचालय हटाने की बात करते हो। मन की जिस कुत्सित वृत्ति ने वेश्यालयों का निर्माण किया जब तक वह वृत्ति दूर नहीं होती तब तक वेश्यालय हटाने से क्या लाभ होगा। वेश्यालय हटाओगे, तो वह वासना वृत्ति तुम्हारे घर में ही वेश्यालय का निर्माण करेगी और पूरा गाँव उसी रोग से त्रस्त हो जायेगा। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का शोधन जरूरी है। केवल नाँक-भौंह सिकोड़ने से कुछ नहीं होगा। कहने का आशय कि जैसे अच्छे संस्कारों से संस्कृत मन किसी बुरे दृश्य से जल्दी प्रभावित नहीं होता, वैसे ही बुराई की जड़ जमा हुआ चित्त अश्लील चित्रों को देखकर अतिशीघ्र हो आन्दोलित हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती अपने आप ही मन की माप हो जाती है। गन्दे दृश्य क्रोध के विषय नहीं है वे विचार के विषय हैं।

नर्मदा के किनारे एक महात्मा का आलीशान आश्रम था। पास से गन्दा नाला बहकर नदी में गिरता था। आश्रम की छत पर एक सुन्दर कमरे में एक नवयुवक संन्यासी रहा करते थे। जो कहते हैं; बड़े संयमी थे। गन्दे नाले के पास एकान्त स्थल समझकर मुहल्ले की गरीब स्त्रियाँ शौचादि के लिए आतीं और महात्मा जब नित्य-नियमादि करके बैठते तो उनकी खिड़की से उन स्त्रियों के गुप्तांगों का दृश्य दिखता और महात्मा बेचारे नाक-भौंह सिकोड़ते, कभी औरतों को गाली देते तथा कभी आश्रम को कोसते कि कैसी गन्दी जगह पर बना है कि सुबह-सुबह मन खराब हो जाता है। एक दिन उन्होंने आवेश में यह चर्चा एक अन्तमुर्खी संत से की तो उन्होंने कहा—कि तुम्हारा मन गन्दा हो जाता है तो तुम क्यों गन्दे हो जाते हो। यह गन्दा नाला और ये नग्न स्त्रियाँ बुरी नहीं हैं बुरा तो तुम्हारा मन है। वस्तुतः उस गन्दे दृश्य के देखने से अन्तःकरण की गहरी परतों में ढकी हुयी वासना की गन्दगी का ढक्कन खुल गया उसे समझो और निर्मल हो जाओ। महात्मा ने समझाया—जिसका मन काम का रोगी है तथा कई जन्मों के उसमें ऐसे संस्कार हैं कि तनिक सा खुला दृश्य देखकर आपे से वाहर हो जाता है तो उसमें दृश्य का दोष नहीं। सच है कि डाक्टर लोग दिन में कई वार स्त्री की योनि की परीक्षा करते हैं तथा बच्चेदानी का इलाज करते हैं उनका मन तो खराब नहीं होता। सन्त बनने का मतलब दोनों पक्षों की समांगता। एक पक्षता नहीं। संसार की खामियों से मन गन्दा नहीं करना है तो डाक्टर बनकर जीना अच्छा है मरीज बनकर नहीं। साधु जीवन; मठों को महकती मानसिकताओं के साथ-साथ घुली हुयी गन्दगी का यथार्थ भी है, स्वीकार भी है। वासना का मलमूत्र भरा शरीर जिसे देखकर मन दूर-दूर हो, उधर यदि साधक है तो दृष्टि ही न करे, उसके संसर्ग से दूर रहे। विरक्त की यह दृष्टि है किन्तु यह अन्तिम सत्य नहीं। शरीर के स्तर की सोच काफी नहीं। मन के संकल्पात्मक पक्ष का भी ध्यान होना चाहिए।

सुधार मन का करना है। उसका एक ही उपाय है कि मन के स्तर को पार करके बुद्धि की गहराई में उतरा जाये। जिसकी निश्चयात्मकता की गहराई में मन तैरते हुए पत्ते के ढेर या हल्के तृण के समान दिखता है। वहाँ पहुंचकर मन कष्टकारक नहीं होता वरन् मोद का साधन बन जाता है। मन की कई स्थितियाँ हैं। जो व्यक्ति अध्यात्म के प्रसंगों का श्रवण करके अतिशीघ्र ही प्रभावित हो जाये उसे जानना चाहिए कि उसमें पूर्वजन्म के सात्विक संस्कार अधिक हैं। किन्तु जो सेक्सुअल सीन देखकर बेकाबू हो जाये वह जरूर अध्यात्म के पथ का राही जल्दी नहीं बन सकता। उसके सुधारने में देर लगेगी। किन्तु जरूरी है मन को देखते रहना। या मन के स्तर को छोड़कर सीधे आत्म की सतह में, उसके अतल में कूद पड़ना और यही ध्यान की गहराई है। निर्विषयता के अतल में कूद जाने पर मन की सत्ता वहाँ पहुंच नहीं पाती। और हम अप्रभावित बच जाते हैं।

विभीषण जब मन के स्तर पर था तो उसमें सत्संकल्प तो उठते थे किन्तु उसका चिन्तन मोह के कब्जे से छूट नहीं पाता था; वह मन एवं बुद्धि दोनों स्तरों पर रोग की जकड़न में था। वह रोग था मोह; जो बुद्धि का धर्म है। गोस्वामी जी ने रावण को मोह कहा है जो क्षयरोग की तरह है। जिसकी जड़ छुआछूत है। विभीषण उस छूत से बच नहीं पा रहा था। किन्तु एक तत्वदर्शी गुरु ने उसे दो स्तरों से नीचे अतल में कूद जाने की सलाह दी जहाँ आनन्द ही आनन्द है, जहाँ प्रेम ही प्रेम है। विभीषण वहाँ तुरन्त कूद गया। यही उसकी प्रपत्ति है। प्रपत्ति या समर्पण में मन का स्तर सीधे छूट जाता है तथा बुद्धि चित्त व अहंकार सभी कुछ आनन्दमय हो जाते हैं। वे सभी राम की पकड़ में आ जाते हैं। व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है। मन स्वयं धुल जाता है। मन की गली जब छोड़ दी तो फिर वहाँ पे आना क्यों। किन्तु मन को लिये हुए जब जायेगा तो उसे बार-बार देह के स्तर पर, इन्द्रियों के स्तर पर आना ही

पड़ेगा। आनन्द के अतल में कूदना है तो मन को अधिक ऊँचा बनाओ जितनी ऊँचाई से कूदा जाता है उतनी ही गहराई में प्रवेश पाया जा सकता है। सात्विक मन हिमालय की चोटी से भी अधिक ऊँचा होता है और परमात्मा का स्तर पाताल से भी अधिक गहरा है। जितना ही मन सात्विक होगा हम उतना ही अधिक परमात्मा की गहराई में उतर सकते हैं। इसलिए कहा जाता है कि—'सुसंस्कृत-मनसैवानुद्रष्टव्यम्' अर्थात् अत्यन्त परिष्कृत मन से ही आत्म तत्व द्रष्टव्य है। मन का परम उपयोग है। किन्तु राम में डूब जाने के बाद मन छूट जाता है। वह भी रामरंग में रंग जाता है। इसलिए मन, अद्वैत में सहायक है, बाधक नहीं। मन का बाध करने चलोगे तो नया बाधक मन पैदा करना पड़ेगा। अतः मन का क्षेत्र छोड़ दो, कूद जाओ आत्मतत्व की गहराई में। मन अपने आप छूट जायेगा नाश की जरूरत ही नहीं, और नाश होगा भी नहीं।

लोग मन की बातें करते हैं कि कैसे शान्त होगा; बड़ा उत्पाती है. बिल्कुल प्रेत हो गया है। तनिक सुधारते भी हैं तो बड़े-बड़े उपदेश दे जाते हैं। अभी थोड़ा ही मन काबू में आया कि बाबाजी उपदेशक बन बैठे; और दुनिया भर के मन सुधारने की गारण्टी ले लिये। साधक के लिए यही खतरनाक स्थिति है। अधकचरा साधक ही उपदेशक होता है। जिन्दगी में एक ही मन सुधारने में कई जन्म लग जाते हैं, दस मन की बात क्या करें। एक बस्ती के किनारे एक सन्त कुटिया बनाकर रहते थे। बड़े संयम की जिन्दगी जी रहे थे। भिक्षाटन करते और मन की साधना का प्रयोग करते। उनके पास उपदेश सुनने वाले गाँव से आया करते थे। महात्मा बड़ी मस्ती में अध्यात्म की चर्चा करते तथा अधिकतर मन के बारे में ही उनका प्रवचन होता। मन ऐसा है, मन वैसा है, मन खराब है, मन प्रपंची है मन को मार लो तो परमात्मा दूर नहीं। एक दिन एक घटना घटी। गाँव की एक विधवा स्त्री उनके पास आयी। चिल्लाकर बोली, बाबा ! रक्षा करो। मैं जीवन से तंग आ गयी हूं। बाबा जी ने

पूछा—बात क्या है ? वह बोली मैं विधवा हूं लेकिन जब से नयी बहू आयी है तब से मेरा पुत्र मुझे बहुत मारता है अब मैं किसी कुँए में कूदकर मर जाऊँगी। बाबा ने कहा—कुँए में कूदना था तो यहाँ क्यों मरने आ गयी। तू कूँए में नहीं कूदेगी तू कितनों को कूएँ में डाल देगी। अच्छा तू यहीं कूटी बनाकर राम राम कर। तेरी रोटी की व्यवस्था मैं कर दूँगा। और वह बड़े साधु भाव से रहने लगी। बाबा रोज शाम की बैठक में उसे बुलवाते और उपदेश करते। देख ! मन को काबू में रख तथा काबू में न रख सके तो हमें सौंप दे मैं उसकी सँभाल करूँगा। लेकिन वह औरत कहती महाराज मन बड़ा पापी है बहुत बुरा-बुरा सोचता है। ऐसा कहने पर बाबा कहते अब तू मन के क्षेत्र में प्रवेश कर रही है। मन को समझ लेगी जल्दी ही तू मन पर काबू पा लेगी। और वह स्त्री रोज वैराग्यमय हो बोलती। एक दिन वह बिना बाबा को बताये कुटिया से घर चली गयी। बाबा उस दिन शाम को रोने लगे। मैंने कारण पूछा तो बताये कि—मेरे पास जो आता है वह सुधर कर जाता है। उसका मन वश में हो जाता है उसे मैं सुधार देता हूं। किन्तु वह दुष्ट औरत चली गयी और अपना गन्दा मन भी अपने साथ ले गयी, कैसी अभागिन है वह। इसीलिए पश्चात्ताप कर रहा हूं। मैंने कहा महाराज आपका ही मन काफी है आपके पास सुधार के लिए दूसरे का मन कहाँ तक रखेंगे। उसी को बचाए रखिए। कहीं ऐसा तो नहीं कि वह औरत ही आपका मन लेकर चली गयी। उन्होंने कहा मैं हतप्रभ हूं ऐसा क्यों ? और वे कुटी के भीतर चले गये।

रागाकुल मन कभी लगता है कि वह वश में हो गया है किन्तु भ्रम पैदा करता है। रागयुक्त मन की शान्ति और राग रहित मन की शान्ति में फर्क है। कुछ लोग कहते हुए सुने जाते हैं कि अमुक आदमी दिन रात भजन करता है किन्तु फिर भी अशान्त रहता है किन्तु मैं तो बिना भजन किये ही, बिना ध्यान किये ही शान्त रहता हूं। किन्तु शायद उन्हें यह पता नहीं कि उनसे बढ़कर शान्त तो वह

शराबी भी है जिसने अभी-अभी बोतल चढ़ाई है। किन्तु उठने पर तो पिशाच की तरह दिखेगा। बिना ध्यान की स्थिति प्राप्त किये जो शान्ति दिखती है वह तो गधे में और बकरियों में भी दिखती है। किन्तु वे अविद्या की नाना ग्रन्थियों में जकड़े हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि पशुओं में बौद्धिक ग्रन्थियों का उतना विकास नहीं हुआ होता वे मात्र सेन्टीमेण्ट से काम चलाते हैं। बौद्धिक विकास हुआ नहीं, संकल्प-विकल्प की शुरूआत हुयी नहीं तो मन शान्त होना चाहिए। मन में मात्र संकल्पना का न उठना ही समाधि में जाने की प्रक्रिया नहीं है। क्योंकि पशु तो बौद्धिक सोचों को उत्पन्न ही नहीं करता तो वह मुक्ति या निर्वाण को प्राप्त हो जाए किन्तु वह पाशवद्ध है। कुछ नवदर्शन की परिकल्पना में मस्त रहने वाले फ्रायड के अनुयायी कहते हैं कि वस ? मन की संकल्पनाएँ मिटा दो, संवेदना भर रहो तो तुम समाधि की गहराई में जा रहे हो। किन्तु आध्यात्मिक शान्ति और भौतिक शान्ति में बहुत अन्तर है। इन्स्टिँक्ट के आधार पर अबोध बालक और एक परमहंस को एक जैसा देखा जा सकता है। किन्तु बच्चा बद्ध है तथा परमहंस मुक्त। दोनों दशाओं में प्रवृत्तियाँ एक जैसी। दोनों खेलते हैं मूकवत्, जड़वत् किन्तु स्थिति में पूर्णभेद है। चित्रकूट वाले परमहंसजी एक बार एक गाँव में बच्चों के साथ खेल रहे थे। एक मांत्रिक आया। वह मंत्र पढ़कर बड़ी-बड़ी चक्की चला देता था तथा बच्चों को चक्की पर बैठाकर चलाता तो बच्चे खुश होते और अपने-अपने घरों से पैसा लाते। उस मांत्रिक ने परमहंस को भी चक्की पर बैठने को कहा। बाबा ! तू भी घूम ले। परमहंस चढ़ गये। उनके चढ़ते ही चक्की रुक गयी। उसका मंत्र का प्रभाव भी हवा हो गया। वह चिल्लाया ! बाबा तूने सत्यानाश कर दिया। उतरो-उतरो। परमहंसजी ने कहा तो क्या बाबा को भी बच्चा समझ लिया था। वह गिड़ड़िाया तो परमहंस-जी ने उसके मंत्र को अपनी इच्छा शक्ति से पुनः जाग्रत कर दिया। तो केवल संकल्प का न उठना ही यह नहीं बताता कि मन शान्त

हो गया है। उसमें संकल्पों का प्रागभाव भी हो सकता है। जो बाद में मन को आन्दोलित कर दे। अतः जिस मन की समग्र संकल्पनाएँ समझ ली गयी हों फिर बुदबुद भी उठने की अपेक्षा न हो, तभी संकल्प शून्य कहा जा सकता है। लेकिन संकल्पों का समझना बुद्धि का काम है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण ने बुद्धि के द्वारा ही मन को वश में करने की बात की है। उससे समझना पड़ता है कि मन में कितनी कल्पनाओं का प्रागभाव (कार्य के पहले कारण में कार्य का अभाव) है कितनी कल्पनाओं का ध्वंस हुआ, तथा कितनी विद्यमान हैं अभी। अतः बिना ध्यान में गये ही जो शान्ति की घोषणा करता है उसकी शान्ति तूफान आने के पूर्व की हवा की शान्ति की तरह है। जो यदि अशान्त होगी तो उसका सँभालना कठिन हो जायेगा। मन के पूर्ण शान्ति पाने के लिए जरूरी है कि वह अपने सब रूपों में पहले बुद्धि के प्रकाश में अशान्त हो जाए उसमें जो संस्कारों के गुच्छे चिपके हैं वे पूर्णरूपेण आन्दोलित होकर बिखर जायें। कभी विक्षिप्तता, कभी रुदन, कभी अशान्ति, कभी स्वप्न, कभी उद्विग्नता के रूप में। मन की पूर्ण शल्य चिकित्सा होने के बाद ही वह पूर्ण निर्मल होकर शान्ति का रूप धारण करेगा। उपनिषद् में इसीलिए मन के इस शान्तिमय पक्ष की बड़ी प्रशंसा की गयी है। वह शान्तिमय ब्रह्म के ही समान है— 'मनो ब्रह्मेति व्यजानात्'। तो सबसे पहले जरूरी है मन की कल्पनाओं का ज्ञान, फिर मन के स्तर का ज्ञान तथा फिर मन से आगे जाना। उक्त दो स्थितियाँ मन के शोधन की स्थितियाँ हैं तथा तीसरी स्थिति शोधित मन का ध्यान द्वारा समर्पण। किन्तु मन की संकल्पना का ज्ञान कैसे होगा। वह तो विचारगम्य है। विचार बुद्धि का धर्म है, उसकी क्रिया है। क्रियावान के क्षेत्र में ही क्रियाओं की माप बनती है और वहीं मन के विषय में सोचें जन्म लेती हैं।

मन बौरा मानै नहीं

मन बहुत ही गतिशील परमाणु द्रव्य है। यह सम्पूर्ण विश्व का भ्रमण जाग्रत अवस्था में कर लेता है। किन्तु सुषुप्ति में छिपे संस्कारों का रेचन करता है। एक काल्पनिक विचार सृष्टि को जन्म देता है। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि निष्क्रिय होती है। विचारों का प्रसव नहीं करती। अतः जाग्रत अवस्था में ही मन को पकड़ा जा सकता है। जो अपने कार्यकलाप करने के लिए किसी नाड़ी में प्रवेश कर जाय तब उसे कैसे पकड़ा जा सकता है। सुषुप्ति दशा में, पुरीतत नाड़ी में छिपा हुआ मन एक गहन गुफा में छिपे हुए दस्यु के समान है जो वास्तविक गतिविधियों से तो दूर रहता है। किन्तु उसके आभास मात्र से सृष्टि फुरती है। जैसे कोई डाकू कहीं छिपा हो, स्वयं निष्क्रिय हो किन्तु उसका भय एवं प्रभाव ही लोगों को उसकी वास्तविकता से परिचित कराता रहता है। जैसे—गब्बर-सिंह के न होने पर भी गाँव की डरी स्त्रियाँ अपने बच्चों को भय दिलाती हैं कि रोओगे तो अभी गब्बरसिंह आ जायेगा। स्वप्न की सृष्टि छिपे हुए मन का प्रभाव मात्र है, जो संस्कारों को बाहर करता है। कभी-कभी तो ऐसे स्वप्न आते हैं जो कभी अनुभूत नहीं होते। एक गाँव का किसान जो पढ़ा लिखा नहीं था। उसका नाम कर्मदेव था। बिल्कुल दिनभर कर्म में ही लगा रहता। एक दिन रात को मेरे बगल में ही सोया। देर तक चिन्तन-मनन करने के कारण मैं लगभग आधी रात के बाद ही सोने का विचार करने लगा तभी उस किसान की गहरी नींद में बड़बड़ाहट ने मुझे चौंका दिया। मैंने सुना, वह स्पष्ट रूप से विष्णु सहस्रनाम का पाठ कर रहा था। लगभग पाँच मिनट के बाद वह स्वयं भी राम राम कह-कर जग पड़ा और मुझे बुलाया। पंडितजी ! सो गये क्या। मैंने

पूछा क्या बात है ? वह बोला—अभी-अभी मैं क्या पढ़ रहा था ? स्वप्न में एक किताब बाँच रहा था। मैंने कहा, तुम तो शुद्ध संस्कृत पढ़ रहे थे। क्या संस्कृत पढ़े हो ? मैंने विष्णु सहस्रनाम की पुस्तक दी और कहा—तुम यही पढ़ रहे थे। उसने कहा आप पढ़कर सुनाइए। मैंने पढ़ा तो वह खुशी से झूम उठा। बोला—हाँ हाँ, ऐसे ही पढ़ रहा था। वह आश्चर्य में बोला महाराज ? ऐसा क्यों ? मैंने कहा—सो जाओ सुवह बताऊँगा। और मैं सो गया। वस्तुत: वह व्यक्ति इस जन्म में तो निपट, निरक्षर था किन्तु पूवजन्म में उसने खूब पढ़ा था। इतना पढ़ा था कि विद्या का अजीर्ण हो गया था और उसका वमन इस जन्म में स्वप्न में हो रहा था। किसी प्रबल अदृष्ट के उद्‌बोधन से स्वप्न में उसके मन ने वह पूर्व संस्कार जाग्रत कर दिया था।

तो मन जब तक जाग्रत अवस्था में अपने क्रियाकलाप में मग्न है। तभी तक उसकी गतिविधियों का ज्ञान हो सकता है। संकल्प-विकल्प गिने जा सकते हैं। जैसे यदि कोई व्यक्ति नदी के किनारे वैठकर रात में या अर्द्ध निद्रा में पत्थर फेंके तो न तो वह गिन सकता है कि कितने पत्थर फेंके और न यही जान सकता है कि क्या फेंका। हो सकता है वह पत्थर की जगह हीरे ही फेंक रहा हो। जिन्दगी बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी है। सतत् जाग्रत रहकर ही हम कुछ कर सकते हैं। विदेशों में नींद में चलने की घटनाएँ बहुत सुनी जाती हैं, किन्तु निद्रा में चला हुआ आदमी न तो गन्तव्य तक पहुंचेगा और न सुरक्षित बचेगा ही। जाग्रत अवस्था में हमें मन की तरंगें गिननी हैं, और जब हम मन की तरंगें गिनने लगते हैं, तो लगता है कि दुनिया के सारे चित्र, सारी भावनाएँ इसी में भरे हैं। कभी-कभी एक सुखद आश्चर्य; कभी दुःखद चित्र, कभी उभरते शून्य प्रकट होते हैं। लेकिन महज गिनना है, रुचि नहीं लेना है। रुचि लेंगे तो संकल्पों की गणना में कई जन्म लग सकते हैं। तथा सच्चे-सच्चे अध्यात्म के सेवक भी नहीं रह सकते। सिर्फ गिनना है, रुकना नहीं है।

बाग के वृक्षों की सिर्फ रखवाली करनी है चैतन्य होकर; फल नहीं चखना है। नहीं तो साधक की योग्यता खत्म हो जायेगी। संसार के फल खाने में मशगूल हुआ पक्षी मुक्त गगन की सैर नहीं कर पायेगा। साधक संसार में रहता है, संसार की तरफ मुख नहीं करता। स्वाद लेने वाला बिना फँसे रहता नहीं। एकबार एक राजा ने अपने महल के लिए सच्चा सेवक खोजने का आदेश दिया। मंत्री आदमी की खोज में निकला, उसे दो व्यक्ति मिल गये। राजा को एक की ही जरूरत थी। मगर परीक्षा के लिए दोनों को रख लिया। देखना यह था कि दोनों में कौन-सा व्यक्ति अन्तःपुर का सेवक हो सकता है। ईमानदार और चरित्रवान् व्यक्ति की आवश्यकता थी। राजा ने दोनों को अपने सुन्दर बाग में देखभाल के लिए रख दिया। मंत्री ने बाग को दो क्षेत्रों में बाँटकर अलग-अलग दोनों को रखा। दोनों ने बड़ी तपस्या से बाग की रक्षा की तथा हराभरा बनाए रखा। दोनों में अन्तःपुर की सेवा प्राप्त करने की चाह जो है। दोनों पके-पके फल तोड़ते और राजमहल में पहुँचाते। एक माह बीत गया। राजा ने सोचा दोनों सेवकों को देखना चाहिए। एक दिन वह एक सेवक के बाग में गया। और उसने फल खाने को माँगा, सेवक आज्ञा में सन्नद्ध था उससे राजा ने कहा—सेवक ! जो इस बाग के सबसे मीठे फल हों उसे खाने के लिए लाओ। सेवक गया उसने बड़े लाल-लाल, सुन्दर फल तोड़कर राजा के सामने रखा। राजा ने खाया तो उसे एकाध फल ही मीठे लगे और बाकी सभी खट्टे। राजा ने थोड़ा घुड़क कर कहा—तुम इतने दिनों तक इस बाग में रहे तुम्हें अभी तक यह भी नहीं पता चला कि किस पेड़ का फल मीठा है किसका खट्टा। उस नौकर ने कहा महाराज ! क्षमा करें। आपने बाग के वृक्षों की रक्षा करने की आज्ञा दी थी, फल चखने के लिए नहीं। राजा भीतर प्रसन्न तो हुआ किन्तु बाहर कुछ झिड़कता हुआ बोला मंत्री ! इसका नाम याद रखना। इसने मुख का स्वाद ही बिगाड़ दिया। नौकर ने सोचा—

मैंने राजा को कड़वें फल दिये मैं कितना मूर्ख हूं मुझे दण्ड दिया जाएगा। वह कुछ चिंतित हुआ मगर ईश्वरेच्छा समझकर शान्त हो गया।

राजा दूसरे सेवक के बाग में गया वहाँ भी स्वागत सत्कार के वाद उसने मीठे फल खाने को माँगे। वह नौकर सारे पेड़ों का फल खाया करता था। उसे सभी का स्वाद मालूम था। वह राजा को स्वादिष्ट फल लाकर दिया। उसमें कुछ फल हरे भी थे जो भीतर वड़े मधुर थे। राजा ने खाया बड़ा प्रसन्न हुआ। बोला सेवक तुमने तो वहुत सुन्दर फल खिलाया। तुमने बाग की खूब सेवा की। मैं वहुत प्रसन्न हूँ। राजा ने उसके लिए कहा—मंत्री ! इसका नाम लिख लो इसने मुझे प्रसन्न किया है। नौकर मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ कि अवश्य ही वह राजा का कृपा भाजन बनेगा। दूसरे दिन राजा ने दोनों को बुलवाया। पहली बाग वाला तो गम्भीर व शान्त होकर चला किन्तु दूसरी बाग वाला उल्लास से भरा तथा आशाओं भरा चला। दोनों राजा की ड्योढ़ी पर पहुँचे। तथा राजा ने कड़े स्वर में कहा—मंत्री ! जिसने खट्टे फल खाने को दिये थे उसे मेरे पास ले आओ। वह सेवक आत्मबल के साथ गम्भीर होकर भीतर गया। हाथ जोड़कर राजा के सामने खड़ा हुआ। राजा ने मुस्करा कर सौम्य भाव से कहा—तुम सेवक होने के योग्य हो अतः अन्तःपुर में जाओ, और उसकी आँखों में प्रसन्नता के आँसू छलक आए। दूसरे को बुलाकर राजा ने सौम्य भाव से कहा—तुम अन्तःपुर की सेवा के योग्य नहीं हो। फलो का स्वाद लेने वाला कभी बाग का निष्काम सेवक नहीं हो सकता। सेवा के लिए त्याग और तितिक्षा पूर्ण चरित्र की जरुरत है। मन का संयम विना त्याग व तितिक्षा के नहीं हो सकता।

मन की तरंगे कभी सोने का पहाड़ बनाती है, कभी सुन्दरी रमणियों का रूप धारण कर लेती हैं, कभी भयानक जंगल, कभी पहाड़, कभी युद्ध, कभी भूस्खलन, कभी ईरान इराक का वमवर्षक

विमान, जहाँ लाखों वम वारूदों का विस्फोट हो रहा है। कभी-कभी मधुर संगीत, कभी मिलन, कभी आर्त्तनाद का रूप धारणकर लेती है। अतः चालाकी यही है कि हम मन की तरंग को मात्र देखते रहें, उनसे लिपटें न। बिल्कुल शान्त भावापन्न। इसकी हर पद चाप को सुने; कहाँ क्या करता है यह। धीरे-धीरे उसके सारे बुदबुद समाप्त हो जाएँगे। इसकी सरल विधि जपयोग अधिक लाभकारी है। बैखरी अथवा मध्यमा से निरन्तर राम राम का जप करते रहें तो स्वयं मन में असंख्य लहरें उठेंगी और बड़ा अद्भुत आनन्द आएगा। तब पता चलेगा कि कौन सी लहर कितनी देर ठहरती है। तथा उसका मूलभूत संस्कार भी अपना रहस्य खोल देगा। किन्तु वहाँ भी सोते हुए जप नहीं करना है; या जप करते ऊँघने न लगें। निःसंकल्प अवस्था में भले ही झूमना हो जाए तो अलग बात है नहीं तो शारीरिक थकावट या मानसिक तनाव से बचने के लिए जप करते-करते सो जाँए तो कहाँ संकल्प और कहाँ संकल्पों की गणना। एक व्यक्ति मेरे पास आया तथा मानस संकल्पों को गिनने का प्रयोग करने लगा। मैंने कहा—बैठकर मौन भाव से जप करो। उसने श्रीराम नाम का धारावत् जप प्रारम्भ किया और आधे घण्टे में झूमने लगा। किन्तु थोड़ी देर में अचकचा कर उठा। बोला—स्वामी जी ! बड़ा गजब हो गया। और वह शरमाने लगा। मैंने कहा— क्या हुआ। ठीक-ठीक बताओ ! तुम्हारे मन का इलाज हो जाएगा।

उसने अपने मन का रहस्य खोला—स्वामी जी ! आज के पन्द्रह दिन पहले मैं एक होटल में गया था मैंने संग वश मदिरा पी; तथा एक स्त्री से मेरा सम्बन्ध हो गया था। जब आज जप में बैठा तो प्रथम तो मन शान्त हो गया किन्तु थोड़ी देर बाद जप करते-करते मैं उस होटल का चिन्तन करने लगा। उसका माहौल उठ खड़ा हुआ तथा पूर्ववत् मैं मनोराज्य में उस आलीशान कमरे में गया तथा उस औरत को लेकर मकान में आया तथा उसे मैंने खूब प्यार

किया। और क्या बताऊँ! वह बोलता जा रहा था और शरमाता जा रहा था—बोला मुझे जप बन्द करना पड़ा तथा उठ गया। मैंने पूछा! जप से उसका क्या ताल्लुक है। उसने कहा—बैठे-बैठे मेरा वीर्यपात हो गया। मैंने कहा—वीर्यपात होना आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो यह कि जप जाग्रत होकर किया जाता है, तन्द्रा की मस्ती में नहीं। जप वस्तुतः जागृति की गहराई का अभ्यास है। जप मनोराज्य का निरीक्षण है। पहले जप करते हुए मन में थोड़ी शान्ति होती है किन्तु वहीं मस्ती का हेतु नहीं। बड़ी मस्ती यानी जागृति भी मस्ती लेने के लिए मन की क्षणिक मस्ती की कुर्बानी देनी होगी। नहीं तो निद्रा; जप लूट लेगी तथा मनोराज्य प्रबल हो जायगा। जब जप के साथ संकल्पों से चिपक जाते हो तो निरालम्ब संकल्प त्याग तो कठिन ही होगा। इसलिए जप के साथ सतत् जाग्रत एवं चैतन्य रहना पड़ता है। और तभी संकल्पों को पकड़कर जप के वेग से जोर से झटका जा सकता है, नहीं तो पूरा मन, पूरा विचार ही उस संकल्प के राग में रँग जाएगा। और हम जप करते हुए भी काबुल में घोड़े खरीदने लग जाएँगे।

जप करते समय मन बहुत भागता है। कभी-कभी तो उकताहट एवं ऊब होने लगती है। मन करता है जप बन्द कर दें। ऐसा क्यों? वस्तुतः इसलिए कि मन में जाने-अनजाने अनगिनत अच्छे-बुरे विषय के संस्कार भरे हैं, जप से मन की भूमि में पहले से विलक्षण, विजातीय संस्कार जो सात्विक होते है, प्रकट होने लगते है। तो पहले से बैठे संस्कार उभरते हैं और पुराने क्षीण शक्ति होने से बाहर निकलते हैं। क्योंकि विषय के संस्कार भी निरन्तर अभ्यास से ही दृढ़ होते रहते हैं, यदि तद्विषयक अभ्यास बन्द कर दिया जाय तो वे क्षीणशक्ति होने लगते हैं और यदि उनमें विजातीय प्रबल अनुभव भरा जाय तो उन्हें (प्राचीनों को) घुलकर निकलने के सिवा कोई चारा नहीं मिलता। धीरे-धीरे जप की विजातीय प्रक्रिया बढ़ाते रहने से विकारज संस्कार अपने आप कभी अकेले तो

कभी समूह बनाकर बाहर निकलते रहते हैं। जो कभी-कभी बड़े भयानक होते हैं। प्रथम जप करने वाले को दो चार दिन बड़े भयानक सपने आते हैं किन्तु वे इस बात के प्रतीक हैं कि प्राचीन संस्कार अब हतोत्साहित हो गये हैं। जैसे एकाएक आपरेशन थण्डर कर देने से प्रथम उग्रवादी गतिविधियाँ तेज हो जाती हैं। किंतु घबड़ाना नहीं चाहिए धीरे-धीरे मन स्वच्छ हो जाता है। एकाएक मन के सभी संस्कार निकलना कठिन भी है और घातक भी। दाँत में यदि बहुत पुरानी मैल जमा हो तो यदि एकही दिन रगड़कर निकालोगे, तो मसूड़ों से रक्त भी निकल सकता है। मैल तो निकल जाएगी किन्तु मसूड़ों में घाव हो जाएगा; जो बाद में सीरियस हो सकता है। अतः रोज-रोज हल्का ब्रश करने से ही दश पन्द्रह रोज में आसानी से मैल साफ हो जाती है। अतः मन के संकल्प गिनने का प्रयास निरन्तर हो, अविच्छिन्न हो किंतु समझकर ही। विशेष तेज न हो तो धैर्य पूर्वक हो तभी साधक की साधना में स्थायी गति आ सकती है। इस प्रक्रिया के बाद ही हम संकल्प की गणना से आगे के स्तर पर कदम रख सकते हैं। संकल्पों की गणना का तात्पर्य उन्हें गिनकर हिसाब नहीं बैठाना है। बल्कि साक्षिभाव से विचार-पूर्वक देखते हुए छोड़ते जाना है नहीं तो संकल्पों का; तरंगों का; विचार करते रहने से उनकी गणना में ही लगे रहने से हम मन को कैसे समझेंगे। लहर की गणना में ही कृतकृत्य हो जायेंगे तो नदी की अस्मिता का पता कैसे चलेगा। अतः गणना का अर्थ है एक-एक संकल्प को पकड़कर झटकते जाना और आगे बढ़ जाना। एक संकल्प फेंकने के बाद ही स्थान रिक्त होगा और दूसरे संकल्प आएँगे, अतः पूर्ण विवेक व चेतनता से ही संकल्प का दायरा समझ में आ सकेगा और हम निःसंकल्पता या सत्व संकल्पता की ओर बढ़ सकेंगे।

अब मैं समझा मन की चाल

साधना की पहली सीढ़ी है मन के संकल्प को समझना; उसे उखाड़ कर फेंकने की कला जान लेना। दूसरा स्तर है मन को समझने का। मन को समझना उतना कठिन नहीं जितना कठिन है मन के प्रति सावधान रहना। व्यक्ति मन के निर्देशों के अनुसार जीवन भर भागता रहता है किन्तु मन क्या है इसे समझ नहीं पाता। कहने को तो संकल्प विकल्पात्मक है यह। किन्तु यह संकल्प विकल्प रूप न होकर उसके द्वारा अनुमेय है। बुलबुला जहाँ उठ रहा है जरूर वहाँ जल होगा। बुलबुला हवा के द्वारा तो उठता है किंतु हवा में नहीं उठता; उसका आधार जरूर कोई जल होगा। यद्यपि कुछ लोगों ने; अतिवौद्धिकों ने मन को नहीं माना है, कहते हैं, ज्ञान की प्राप्ति के लिए त्वचा और आत्मा का संयोग ही काफी है। किंतु माना कि बाह्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए मन की अपेक्षा नहीं होती, बल्कि मन की एक अन्य बहुत बड़ी उपयोगिता है। मन उस परमात्मा की प्राप्ति के प्रति विश्वास का आधार बनता है। एक बार गुरु नानक जी काशी पहुँचे वहाँ पंडितों के समाज में उनकी बड़ी चर्चा हुयी। कुछ लोग तो श्रद्धा से दर्शन करने आए और कुछ लोग अपनी प्रतिभा ज्ञापन करने आये। नानक जी के साथ उनके दो शिष्य बाला और मर्दाना भी थे। वे दोनों उस समय अछूत गिने जाते थे। विश्वनाथ जी का दर्शन करने जब नानक जी जाने लगे तो वहाँ के पंडितों ने कहा; आप जा सकते हैं किंतु आपके दोनों शिष्य नहीं जा सकते। क्योंकि वे दोनों शूद्र हैं। नानक जी ने बहुत समझाया कि शिव के दरबार में कोई छोटा बड़ा नहीं है सभी बराबर हैं; तो पंडितों ने कहा कि शास्त्रार्थ करो। नानक जी ने एक कुत्ते की और संकेत करते हुए

कहा कि देखो यह कुत्ता है; एक बार एक संत दर्शन करने आये। इसने कहा कि शास्त्रार्थ करो ! शास्त्रार्थ करो !! रट लगायी तो संत ने कहा कि तू कुत्ता हो जा। वह कुत्ता हो गया। जब लोगों ने संत से प्रार्थना की कि इसका उद्धार कब होगा तो संत ने कहा—जब नानक जी आएँगे तो वे छू लेंगे तो इसको मुक्ति मिल जाएगी। यह कहकर नानक जी ने कुत्ते को पाँव से स्पर्श किया उनके छूते ही कुत्ता मर गया तथा वह परमधाम चला गया। इस पर पंडितों ने कहा—महाराज क्षमा करें आप जा सकते हैं किन्तु एक बात का समाधान करें कि आपने अपने पदों में बार-बार मन को ही सम्बोधन किया है। ऐसा क्यों ? मन की सत्ता को क्यों मानना। नानक जी मुस्कराये, उन्होंने कहा—आप प्रसंगेतर क्यों पूछ रहो हो; तो वादविवाद में दक्ष पंडितमानी ने कहा—हमारे मन में अचानक यह बात आ गयी। गुरु नानक ने कहा—तुम्हारे मन न होता तो कहाँ से यह बात आती और यह मन ही है जो ऊटपटांग बातें किया करता है। अतः भइया ! मन को ही समझाता हूँ। कि ऐ मन ! तू सब छोड़कर राम का भजन क्यों नहीं करता। और पंडितों का मन शान्त हो गया। वैसे मन है बड़ा लाड़ला ! व्यक्ति हमेशा मन के लिए ही व्यग्र रहता है। एक सज्जन से मैंने पूछा—आप मन्दिर क्यों जाते हैं। वे बोले—क्या करें बिना दर्शन किए मन नहीं मानता। एक माताजी से पूछा—कि आप रोज सिनेमा क्यों देखती हैं वे बोली—क्या करूँ मन मानता ही नहीं। बात आगे बढ़ी मैंने पूछा—तुम भोजन में मिष्ठान्न ही क्यों लेती हो, तुम्हारी लड़की आँवला क्यों खाती है तुम्हारे पति जी को चटनी ही ज्यादा क्यों पसन्द है ? वे बोलीं बाबा ये तो मन-मन की बात है जैसे—तुम साधु हो हमेशा उपदेश ही करते रहते हो। तुम्हारा मन वही चाहता है। मैंने कहा—मन कितना लाड़ला है। वह जो जो चाहता है, जो जो कहता है वही दौड़-दौड़ के करना पड़ता है।

व्यक्ति जव मन के मुताविक दौड़ता है तो वह मनके स्वरूप का अध्ययन नहीं कर सकता किंतु यदि सावधानी बरती जाए तो एक सच्चा, चालाँक मन का सेवक ही, मन के सम्वेदनशील सूत्रों का पता लगा सकता है। किंतु उस व्यक्ति को मनोवैज्ञानिक प्रतिभा युक्त होना चाहिए। कहते हैं कि नन्दवंश को नाश करने के लिए चाणक्य जब योजना बना रहा था तो सबसे पहले उसने नन्द के परिचारकों को वश में किया तथा उनसे पूछा कि नन्द भोजन क्या करता है। तथा उसकी प्रवृत्ति किस तरफ है। सेवक ने बताया कि वह अधिक से अधिक चर्बी युक्त भोजन करता है। तथा मदिरा भी पीता है। चाणक्य ने निश्चय किया वह अवश्य वेश्यागामी होगा, और चाणक्य ने विषकन्याओं का प्रयोग करके अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। इसी प्रकार एक व्यक्ति जो सन्यासी वेश में रहता था। वहुत ज्ञानोपदेश करता था। वृन्दावन क्या; पूरे उत्तरभारत में उसकी ख्याति हो चली थी। वह कभी-कभी ज्ञापनोदेश के पालन की बात में राजा जनक के स्तर तक पहुँच जाया करता। कहता—जो मृगचर्म पर बैठकर साधना करता है। अथवा भस्म रमाकर बाघम्बर पर बैठकर साधना करता है वह सच्चा साधु नहीं, सच्चा साधक तो वह है जो नवयुवती के शरीर रूपी आसन पर बैठकर ध्यान करता है मगर डिगता नहीं। लोग उसकी बातें सुनकर बड़े चमत्कृत हो जाते। किन्तु एकबार मैं उसके आश्रम में गया तो देखा कि यह व्यक्ति भोजन अति पौष्टिक एवं तरह-तरह के जूस लेता है। उसके मठ में तीन खूबसूरत लड़कियाँ रहती हैं। पहले तो मैं अचम्भे में पड़ गया कि इतना विराग व ज्ञान की बात करने वाला क्या कभी ऐसा भी होगा। फिर सोचा जो निर्लिप्त है उस पर माया का प्रभाव क्या पड़ेगा। उसने मुझे निर्लिप्तता का उपदेश भी सुनाया। मैं चला आया किन्तु छः माह बाद पता चला कि उसने उन तीनों से विवाह कर लिया तथा उसके तीनों से बच्चे हुए। साधु समाज ने उसे बड़ा लज्जित एवं अप-

मानित किया। मैंने सोचा, उसका स्त्री शरीर रूपी आसन बड़ा महँगा पड़ा तथा उसकी सुखदाभक्ति ने उसे कहीं का न रखा। कहने का आशय व्यक्ति का आहार विहार तथा आचरण उसके मन के असली स्वरूप का निर्धारण करता है। मन सतोगुणी है तो उसे रज व तमोगुण का भारीपन बिलकुल बर्दास्त न होगा। यदि मन कुम्भ-कर्णी है तो वह सात्विकता का हनन करेगा। किसी के मन का स्वरूप जानकर ही उसे अध्यात्म के साधन में लगाया जा सकता है। वरना वह अविश्वास का शिकार हो जायगा तथा साधनमार्ग से गिर भी सकता है।

मन मानव जीवन का एक महान मापक है। मन की गहराई पाताल से भी ज्यादा है तथा ऊँचाई में कई आकाश समाहित हो जाते है। अतीत, अनागत, वर्तमान सभी कुछ इसकी पकड़ में है। मन चाहे तो पूरे व्यक्तित्व को छोटा बना दे, चाहे तो पर्वताकार बना दे; मन चाहे तो पूरा शरीर तृण जैसा हल्का बना दे। मन पूरे जगत का पिता भी है पूरे जगत् का पुत्र भी है। यह गुरु भी है शिष्य भी है। लोग कहते हैं हरिश्चन्द्र बहुत बड़े सत्यवादी थे। किन्तु सच तो यह है कि उनका मन सत्य की खूंटी से बँध गया था। विश्वामित्र तपस्वी नहीं थे किन्तु उनका मन धारणाओं में दृढ़ हो गया था, देवर्षि नारद विश्वमोहिनी के जाल में नहीं फँसे थे, किन्तु उनका मन उन्हें बन्दर वनने पर मजबूर कर किया था। मन बहुत वड़ा सूकर भी है, बहुत बड़ा सुन्दर भी है। अध्यात्म की समग्र साधनाओं का केन्द्रविन्दु मन ही है। यदि इसे समझकर पकड़ लिया जाए तो यह तत्क्षण ही समाधि का आनन्द देता है। मन रुका कि समाधि प्रकट हुयी। मन चंचल हुआ कि हम जंगली हो गये। जीवन की उच्च से उच्च साधना का मेरुदण्ड है मन, यदि बुद्धि के द्वारा ग्रहीत है। या तो मन को बुद्धि के द्वारा पकड़ लिया जाय, या मन ही परमात्म स्वरूप में चिपक जाय। उसमें डूब जाय। किन्तु पहला साधन दूसरे का भी साधन है। एकबार कुछ व्यक्तियों ने गोस्वामी

तुलसीदास जी से पूछा कि जीवन का चरम लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जाय तो उन्होंने मन की ही साधना बताई। तथा दोनों विकल्प प्रस्तुत किए। "कै तोहि लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभु प्रिय होहिं।" या तो तुम्हें राम अच्छे लगें या तू राम का प्रिय हो। इसके मूल में बात छिपी है कि या तो तू मन को पकड़ ले या मन को ही परम-सत्ता को पकड़ा दे। किन्तु साधन प्रक्रिया में पहले बुद्धि के द्वारा मन के ही निग्रह की बात की जाती है।

जबतक मन पकड़ में नहीं आयेगा तब तकउसे अपने आनन्द स्वरूप की ओर उन्मुख भी तो नहीं किया जा सकता। मन स्त्री में जाता है, पुरुष में जाता है, बच्चे में जाता है। धन में जाता है, यश में, प्रतिष्ठा में जाता है। मन ही प्रवृत्ति की लंका बनाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं कि प्रवृत्ति ही लंका है। स्वर्ण-मयी है वह। आदमी की प्रवृत्ति सोने के लिए ही हो रही है। उस लंका में चार द्वार है। "लंका बाँके चारि दुआरा" मनुष्य की जिन्दगी में यदि प्रवृत्ति होती है जो वह चतुर्मुखी होती है वह चार द्वारों से होती है। चार द्वार हैं—धर्म, अर्थ, भोग और यश व्यक्ति इसी चार के लिए ही प्रवृत्त होता है। वह धर्म के लिए प्रवृत्ति में जाता है। अर्थ के लिए प्रवृत्ति में पड़ता है, वह भोग और प्रतिष्ठा के लिए लंका बनाता है। धर्म का अर्थ; यज्ञादि करना होता है। स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए यज्ञ का अनुष्ठान करना ही प्रवृत्ति का द्वार है। प्रवृत्ति के इस द्वार की रक्षा सतोगुणी कर्म से होती है। लेकिन यदि प्रवृत्ति पर मोह (रावण) का शासन होगा तो धर्मद्वार का रक्षक प्रहस्त, व बज्रमुष्टि होगा तथा अशनिप्रभ होगा। जो क्रोध और आवेश रुप हैं। धर्म द्वार पर यदि आवेग या क्रोध रक्षक होगा तो धर्म, धर्म न रहकर अधर्म रूप हो जाएगा। तामसिक अभि-चार मात्र होगा। रामायण के लंकाकाण्ड में रावण ने चारों द्वारों के चार प्रकार के रक्षक नियुक्त किये थे। अर्थ के द्वार पर उसने महापार्श्व, महोदर तथा अतिकाय को नियुक्त किया था। जो लोभ,

कृपणता और मत्सर रूप है। लोभ की काया बड़ी होती है, वह अतिकाय है, महोदर का पेट बड़ा था वह दूसरे का भाग छीन-कर सबकुछ उदर गत करके भी तृप्त न होने वाला मत्सर रूप है तथा महापार्श्व, कृपणता रूप है। पार्श्व का अर्थ होता है बगल, अर्थात् जिनकी बगल बड़ी हो। जो सबका धन अपनी काँख में दबा लेता है। ये तीनों अधर्म पूर्वक धन का संग्रह व उसका संरक्षण करते हैं। प्रवृत्ति का पश्चिमी द्वार भोग का द्वार है वहाँ मेघनाद जो कामरूप है तथा विद्युन्माली आवेशात्मक काम है। वे रक्षक हैं। मानव जीवन में पत्नी काम के नियन्त्रण का साधन है। किन्तु जो अपनी पत्नी में संतुष्ट न होकर स्वेच्छाचार को प्रोत्साहन देता है जिसकी कामना मेघ की तरह नाद करती है तथा विषय तृष्णा विद्युत की तरह वश में न होकर आन्दोलित हो, वह स्त्री भोग का द्वार विकृत करेगा। कहते हैं रावण पहले अधिक कामग्रस्त नहीं था क्योंकि उसने जब मन्दोदरी से विवाह किया तो अच्छी पत्नी पाकर बड़ा सुखी और सन्तुष्ट हुआ था। किन्तु जब उसके मेघनाद (ताम-सिक काम) जैसा पुत्र हुआ तो उसका भोग अनियन्त्रित हो गया वह मन्दोदरी तक ही सीमित न रहा। गोस्वामी जी कहते हैं—"देव दनुज गन्धर्व नर किन्नर नाग कुमारि। जीति बरी निज बाहुबल बहु सुन्दर वर नारि॥" अनियन्त्रित भोग, कामद्वार को विकृत कर देता है। इसी प्रकार प्रवृत्ति का चतुर्थ द्वार यश का; प्रतिष्ठा का द्वार है। लोकेषणा का द्वार है। आदमी सब कुछ त्याग देता है किन्तु लोकेषणा; प्रतिष्ठा का मोह नहीं छोड़ पाता। इस प्रतिष्ठा के द्वार पर रावण, अग्निकेतु, रश्मिकेतु सुप्तघ्न आदि के साथ स्वयं खड़ा है। वह मोह है जो अज्ञान रूप है उसके सहयोगी रश्मिकेतु, अग्नि-केतु जो दम्भरूप मान के केतु हैं, खड़े है। यश प्रतिष्ठा के लिए अज्ञानी व्यक्ति दम्भ का ही सहारा तो लेता है। दम्भ और मोह कबतक प्रतिष्ठा का द्वार बचा सकते हैं। इस प्रवृत्ति की लंका में विभीषण यानी जीव का कब्जा दिलाने के लिए ज्ञानरूप श्रीराम ने

कैवल्य-साधन मर्कट-भालु के साथ संघर्ष किया तथा विजय हासिल की। लेकिन मन को मोड़कर जीतने के लिए भगवान ने अपनी वाहिनी के चार विभाग किए तथा चारों दरवाजों पर चार प्रकार के सेनानायक नियुक्त किए जो वड़ा मनोवैज्ञानिक उपाय है। पूर्व के; धर्म द्वार पर अग्निपुत्र नील तथा धर्मपुत्र सुखेन को नियुक्त किया। जिसने प्रहस्त आदि आवेगात्मक-वृत्तियों का नाश किया तथा अग्नि विद्या अर्थात् वैदिक धर्मानुष्ठान रूप होकर धर्म का द्वार शुद्ध किया। अधर्म की तामसी प्रवृत्ति, फल समर्पण पूर्वक वेद विहित कर्म से ही नष्ट होती है। भोग के द्वार पर जहाँ लोभ, कृपणता आदि का कब्जा था वह भगवान ने अंगद एवं कुवेर पुत्र गन्धमादन जो संतोष एवं धनतृप्ति रूप हैं, उनको नियुक्त किया; जिससे अर्थ का द्वार संयमित एवं कल्याणकारी हुआ। संतोष और अर्थतृप्ति ही लोभ; कृपणता का शोधन करते हैं अर्थ की स्वार्थमयी प्रवृत्ति धन का द्वार, अनुदार वना देती है। जीवन में धन की आवश्यकता तो है किन्तु कृपणता एवं लोभ युक्त संग्रह एवं संरक्षण उसकी गरिमा को नष्ट कर देते है।

इसी प्रकार पश्चिम द्वार जो भोग का द्वार है जिसपर मेघनाद का; काम का नियंत्रण है वहाँ प्रभु ने प्रवल वैराग्य रुप श्री हनुमान जी को नियुक्त किया तथा वे वरुणपुत्र सुखेन के साथ काम का नियंत्रण करते हैं। धर्म से अविरुद्ध काम ब्रह्म का रूप ही है। किन्तु उसका उच्छृंखल रूप व्यक्ति को राक्षस बना देता है। वैराग्य के द्वारा भोग का द्वार जीव के कल्याण का साधन बनता है। मेघनाद का पराजित होना इसी तथ्य का द्योतक है। वरुण जल के देवता हैं तथा जल ही वीर्य का रूप है वीर्य का नियंत्रण भोग का अनिवार्य शोधन है। वीर्य का नियंत्रण ब्रह्मचर्य का कारण है। जिससे काम की वृत्ति संतुलित होती है। चतुर्थद्वार पर जहाँ मोह स्वयं रक्षक है वहाँ ज्ञानात्मा श्री राम ने स्वयं को रखा, अर्थात् मोह का निराकरण तथा दम्भ का नाश यह प्रतिष्ठा के द्वार का शोधन है। जहाँ

ज्ञान होगा वहाँ प्रतिष्ठा स्थायी होगी, वहाँ दम्भ का केतु नहीं होगा। जीव की प्रतिष्ठा मोह के शासन में नहीं होती वह तो मात्र ज्ञान व वैराग्य के संरक्षण में ही फूलती और फलती है। अतः पूर्ण रूपेण प्रवृत्ति जब भगवन्मयी होगी तथा अपने अधिकार में होगी तो मन स्वयं अपनी स्वच्छन्द गतिविधियाँ बन्द कर देगा। तथा बुद्धि के वशवर्त्ती हो जाएगा। मन कभी काम में प्रवृत्त होता है, कभी शत्रुता तथा कभी लोभ में कभी मूढ़ता में। अतः जहाँ-जहाँ वह प्रवृत्त हो वहाँ तुरन्त तत्तत् विरोधी भावों का पहरा कर देना चाहिए। मन की स्वच्छन्दता बन्द हो जाएगी। जीवन पर से मन का कण्ट्रोल हट जायेगा। बुद्धि का कण्ट्रोल हो जायेगा। मन की समस्त संकल्पनाएँ सकारात्मक हो जाएगी। दौड़ बन्द हुई तो समझो स्थिरता आयी। स्थिरता आयी तो हम स्वयं स्टेशन बन गये। व्यक्ति की समस्या यही है कि वह स्टेशन तो बनना चाहता है किन्तु पाँच मिनट स्टे नहीं कर सकता। बुद्धि का स्टे आर्डर जब तक नहीं लगेगा, मन गतिशील ही रहेगा।

समझ के खूँटे में मन बाँध

इस परम गतिशील मन के रुकावट की एक सहज एव सुबोध प्रक्रिया तो यह है कि वह जहाँ-जहाँ जाय वहाँ-वहाँ वुद्धि द्वारा जाया जाय और जब वह जो हरकतें करे उसे प्रतिबँधित किया जाय। इसके लिए मन का मोह हटाना पड़ेगा। उसे बिल्ली की तरह झपट कर पकड़ना पड़ेगा या उसके पीछे लग जाना पड़ेगा। पीछा छोड़ना नहीं है, उसकी गति के साथ स्वयं बुद्धि को गतिमान करता है।

मन एक ऐसी नदी के समान है, जिसका सरफेस गतिमान होता है, लेकिन तल बहुत ही शान्त ! बुद्धि की तलहटी में रहने वाला मन शान्तिमय होता है। किन्तु बुद्धि के तल को छोड़कर जैसे-जैसे हम संकल्प की ओर बढ़ते हैं यानी बहिर्मुख होते हैं वैसे-वैसे उसमें चंचलता गतिशीलता, एवं फ्लक्चुयेशन आता है, बुद्धि से दूर बिल्कुल आवेश की पंक्ति में। संकल्प के साथ तेज भागते मन को एकाएक रोक तो नहीं सकते और एकाएक रोकने पर हानि भी है। किन्तु इसका रास्ता मोड़ सकते हैं। रागाकुल होकर बिल्कुल संकल्प की सीध में जो भागता है और जिस प्वाइण्ट से भागता है उसको दौड़ कम नहीं करनी है लेकिन रास्ता थोड़ा तिरछा देना है। वह तिरछे भागते-भागते वृत्ताकार भागने लगेगा और बाद में वही आ जायेगा जहाँ से भागा था। यह क्रिया हम इस तरह से समझ सकते हैं। एक हिन्दुस्तानी, एक चीनी बकरी लाया। वह थी तो छोटी लेकिन बहुत भागती थी। उसने उसके गले में एक लम्बी रस्सी ब्राँध दी तथा एक लम्बे खूंटे में लॉन में बाँध दिया वह जब विशेष दौड़ने की इच्छा करती तो रस्सी बँधी सीधे भागती लेकिन जब रस्सी खिच जाती तो वह रुककर गोलाई में भागने लग जाती, और जैसे-जैसे भागती, वैसे-वैसे वह रस्सी के साथ खंटे में लिपटती जाती। तथा

एक ऐसा पॉइण्ट आता जब वह खूंटे में बिल्कुल कस उठती और उसके मालिक को जाकर पूरी रस्सी छुड़ानी पड़ती। रस्सी छूटती तो वह फिर भागती और फिर कस उठती, कभी-कभी तो गिर भी पड़ती। तथा जब वहुत थक जाती तो आराम से चरती या बैठकर पागुर करती। अत्यधिक संकल्पनाशील मन, इसी तरह भागने का शौकीन है लेकिन यदि उसे वुद्धि की देखरेख रूपी रस्सी में बाँधकर भगाया जाता है तो वह सीमा का अतिक्रमण होने पर वह वुद्धि के चारो तरफ घूमने लगता है। और एक ऐसा समय आता है जब वह बुद्धि से चिपक जाता है।

यदि बुद्धि में बँध जाता है तो फिर स्वयं नहीं छूट पाता। कभी-कभी छटपटाता भी है। लेकिन बाद में थककर बुद्धि के आँचल में सो जाता है। और कहा जाता है कि मन थक गया किन्तु थका हुआ मन जब स्वस्थ होगा तो पुनः दौड़ेगा। यह दौड़ कबतक झेलेगी बुद्धि। संसार के भोगवादी, मन की इसी थकावट को ही मन का शम मान लेते है कहते हैं अब समाधि का द्वार खुल रहा है। किन्तु जब वह फिर जागा तो विषयों में दौड़ने लगा। अतः विषयोपभोग में जीभर दौड़ने वाला मन महज थकता है, उसका बाध नहीं होता। स्त्री सम्भोग के बाद आयी हुयी थोड़ी देर की उपरामता, भोग निरपेक्ष विरक्ति नहीं है। क्योंकि भोगासक्ति के अंकुर उसमें सोये हुए हैं। वे पुनः शारीरिक शक्ति की खाद पाकर वृक्ष बन जायेंगे। अतः विषय को भी समझना पड़ेगा। बुद्धि के आँचल से बँधा हुआ मन भोगों के लिए छटपटाये न, इसके लिए भोग के स्वरूप को भी समझना पड़ेगा, उसकी दृष्टि बदलनी होगी। या तो मन को वहाँ न जाने दें या ऐसा कर दें कि मन वहाँ जाये ही न।

एकबार यशोदाजी ने बल कन्हैया को चन्द्रमा दिखला दिया। चन्द्रमा गोल-गोल। बड़ा चमकीला ! अच्छा लगा बालकृष्ण को। वे मचल उठे। बोले, मैया मैं चन्द्रमा लूंगा। –क्या करोगे ? मैया ! हम खेलेंगे ! 'लाला ! खेलने से वह टूट जायेगा।' थोड़ी देर चुप रहे

फिर मचल उठे। मैया ! कल तुमने कहा था न, कि वह मक्खन जैसा सफेद होता है। "मैया ! उसे ला दो मैं खाऊँगा।" यशोदा के लेने के देने पड़ गये। सूरदासजी ने इस दृश्य को बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है। "मैं ही भूलि चन्द्र देखरायो सोउ कहत अब खैहौ।" यशोदा ने बहुत समझाया किन्तु बालकृष्ण का हठ छूटता नहीं। फिर माँ को एक उपाय सूझा। उन्होंने एक थाल में पानी भर दिया और कहा ले अपने चन्द्रमा को। और जब पानी में देखा तो चाँद की छाया देखकर वे प्रसन्न हो गये। उसे पकड़ने के लिए पानी में हाथ डाला तो पानी हिल गया और चन्द्रमा खो गया। फिर रोने लगे। मैया ! कहाँ गया चाँद ! मैया बोली लाला ! वह तो भग गया। वह तेरे साथ नहीं खेलना चाहता। चल तू दाऊ के साथ खेल। और सुन ! वह तुमसे बिना खेले चला गया, अब कल आयेगा तो उसको हम बहुत मारेंगे। तथा जब तू दूध पीकर सो जायेगा तो तेरे ब्याह रचाने वाले, तुझे देखने आयेंगे। और सुन लाला ! तेरी जो दुल्हन है न, वह बहुत सुन्दर है, चन्दा से भी ज्यादा चमकता है उसका मुँख। कन्हैया बड़े प्रेम से सुन रहे थे। बच्चों को उनकी शादी की बात बहुत भाती है। और उनका मन चन्द्रमा की ओर से हट गया, वे चन्द्रमा-सी राधा के लिए लालायित हो उठे। यह मन के मोल्ड करने का एक अच्छा दृष्टान्त है। इसमें मन का भागना बन्द नहीं हुआ किन्तु भागने की दिशा बदल गयी। वस्तुतः यदि बुद्धि मन को समझा-बुझाकर भोग में मिले आनन्द को अन्तर्मुखता में दिलावे तो मन सदा के लिए दौड़ना बन्द कर देगा नहीं तो वह बुद्धि की खूंटी से बँधा-बँधा भी विषयों में ही जाने का बहाना ढूंढेगा। जैसे पड़ोस में कोई रूपवती युवती रहती हो, और मन उसके पास जाना चाहता है तो बुद्धि उसे समझाये। देख मन ! वह लड़की कोई अच्छी नहीं है। मन सोचता है, अच्छी तो है, नहीं भी हो, तो मुझे तो अच्छी लगती है। बुद्धि कहे कि उस लड़की के माँ बाप बड़े रुक्ष स्वभाव के हैं, वे तेरे प्रति अच्छी दृष्टि

नहीं रखते, तो मन कहता है, दुनिया में कौन माँ बाप हैं जो दो प्रेमियों के बीच में बाधा नहीं वनते। यह कोई मेरे रोकने का उपाय नहीं। फिर बुद्धि कहे—हाँ एक बात है कि वह लड़की भी तुझे नहीं चाहती, मन कहता है, नहीं चाहती तो न चाहे आते-जाते, परिचय होने पर तो चाहने लगेगी, और मन पुनः जाने की चाहेगा। अब बुद्धि के पास एक और अस्त्र है जो मन को रोकने का बड़ा सवल अस्त्र है। दुनिया के मनोवैज्ञानिकों ने मन की इस प्रवृत्ति का अध्ययन कर वड़ा आश्चर्य अनुभव किया, उन्होंने देखा कि मन में स्वस्वामित्व का बड़ा विलक्षण भाव रहता है। वह कुछ अंश में इगोइज्म के करीब होता है। आत्म-गौरव मन का नहीं, वरन् अहंकार का धर्म है। किन्तु उसका सूक्ष्मांश मन में भी पाया जाता है। तभी तो जव बुद्धि कहती है कि मन ! तू जिस लड़की के लिए मन के लड्डू फोड़ रहा है, वह लड़की तेरे दुश्मन से लगाव रखती है, उसे मैंने एकान्त में तेरे शत्रु के साथ बैठे देखा था तव वह वस्तुतः उस लड़की के प्रति उपेक्षा-भाव-ग्रस्त होने लगता है। और अपनी पवित्रता की ओर ध्यान देने लगता है। जैसे एक पंडित जी, एक सेठ के दरवाजे पर दोपहर तक दक्षिणा के लिए बैठे रहे किन्तु जब सेठ घर से वाहर न निकला तो पंडितजी निराश होकर लौटे तथा जव उनसे पूछा गया कि 'स्वागत कैसा रहा ? तो बोले, मैं कोई गया गुजरा थोड़े ही हूँ जो उसके दरवाजे पर शाम तक दस्तक दूँ या उसके समक्ष हाथ फैलाऊँ ! मगर पूछने वाले को यह क्या पता कि दोपहर तक प्रतीक्षा करके आ रहे हैं। कभी-कभी जगत् से निराशा होने पर ही अपने आत्म गौरव की बात सामने आती है। नहीं तो भोगों के लिए दुनिया भर की बहाने-बाजी चालू हो जाती है। मन की बड़ी द्विविध स्थिति है। इसी द्विविध स्थिति को दम्भ कहते हैं।

दिल्ली में एक जैनी-गृहस्थ रहता था। अपने को बहुत सँयम शील व व्रतनिष्ठ बताता, लेकिन उससे एक महिला चिकित्सक से

मित्रता हो गयी। उसका परिचय बढ़ा। वह महिलाचिकित्सक यद्यपि वृद्धा थी, उसका कोई रोमाँटिक रिलेशन नहीं था, मगर वह जैनी एक व्यसन का शिकार था। उसे स्त्रियों के गुप्ताङ्ग देखने का बड़ा शौक था। वह हर तीसरे दिन, जब नर्सिंग होम में महिला डाक्टर मरीज देखने आती तो मिलने आता। बड़े ज्ञान-विज्ञान की बातें करता तथा येन केन प्रकारेण वह ओ० टी० में जाता तथा जब स्त्रियों के डायग्नोसिस या प्रेगनेंसि की प्रक्रिया चलती तो बड़े गौर से देखता। कई बार मैंने इस बात को देखा। और जब देखता तो वह डाक्टर के कहने से ग्लूकोज की बोतल पकड़े हुए स्त्री के गुप्तांग का ही निरीक्षण करता रहता। एक दिन उस महिला डाक्टर नें मुझसे, उस जैनी के व्रतादिसंयम की प्रशंसा की तो मैंने कहा—डॉक्टर ! आपको पता नहीं, जैनी सिर्फ मुख से ही ज्ञान-वैराग्य झारता है। उसे नग्न स्त्री, देखने का बड़ा शौक है। डॉक्टर हैरान रह गयी। उसने पहले तो विश्वास ही नहीं किया ,मगर मैंने कहा-कि आखिर वह हर तीसरे दिन ही क्यों आता है और आकर भी ओ०टी० में क्यों चला जाता है तो डॉक्टर बोली—वह तो मैं कहती हूँ कि चलिए, यहाँ बैठकर क्या करेंगे तो जाते हैं वैसे है बड़े सज्जन। मैंने कहा—सज्जनता का प्रश्न नहीं है, दम्भ का प्रश्न है। अच्छा एक काम करिए कल जब आवे तो कह देना आप आफिस में बैठें अभी एक लड़की का केस है मैं ओ०टी० से आधे घण्टे में आती हूँ, फिर देखना ! वही हुआ। जैनी आया। डाँक्टर ने कहा—आप आफिस में बैठिए एक पुस्तक देखिए मैं अभी ओ०टी० से आधे घण्टे में आती हूँ। एक नयी लड़की का केस है थोड़ी देर हो सकती है। जैनी बोला, मैं भी सेवा में चलता हूं। क्या परेशानी है। डाक्टर ने कहा—परेशानी कुछ नहीं वह लड़की थोड़ा शरमाती है आप यहीं बैठिए न, डाक्टर ने प्रेमपूर्ण हठ किया। लेकिन जैनी ने उत्तर दिया, आजकल की लड़कियाँ शर्माती नहीं, सिर्फ ढोंग करती हैं। खैर आपकी इच्छा ! ऐसा है, थोड़ा मेरा दोपहर का

नियम बाकी है मैं घर चलूंगा, फिर आऊँगा और वह चला गया। महिला डाक्टर ने कहा—आप का अनुमान सत्य निकला। मैंने कहा, यदि विश्वास न हो तो जब वह नियम करता हो उस समय आप उसे ओ०टी० में हेल्प के लिए बुलाइये वह चला आएगा। दूसरे दिन महिला डाक्टर ने फोन पर बड़े सबेरे ही उसको कहा—और वे जैनी महाशय आपरेशनथियेटर में सतसंग करने आ गये। जाप पर पाप हावी हो गया।

यही स्थिति मन की है। लोग संयमी भी कहें और भोग के दरवाजे भी खुले हों। लोग साधु भी कहें और लूट का माल भी घर में आता रहे। कुछ करना भी न पड़े और सारी उपलब्धि हमारी हो जाय। यह मन की वड़ी दुर्दशात्मक स्थिति है। यह बुद्धि के कण्ट्रोल से छूटे हुए मन की दशा है। इसी द्वैविध्य का निराकरण जरूरी है। बुद्धि के पास इसके दो उपाय हैं। एक तो विषयों में दुख-बुद्धि तथा दूसरा मन का आत्म-मुखी होना। विषयों की क्षयशीलता, दुखोत्पादकता तथा क्षणिकता का चिन्तन एवम् मन को राम की ओर ले जाना, राम के रमणात्मक स्वरूप में बाँध देना। अर्जुन ने जब श्रीकृष्ण से कहा—कि क्या विषयों को पास में रखकर भोगते हुए, विषयों से विरक्ति का कोई सहज मार्ग नहीं है तो भगवान ने खुलासा किया कि अभ्यास व वैराग्य तथा विषयों में सुख बुद्धि का न होना, यही मात्रोपाय है। जवतक स्त्री शरीर के आलिंगन, सुख की आवृत्ति बार-बार मन में होती है और तन्मूलक आकुलता- काकुलता भरी है तब तक ज्ञान वैराग्य की बातें महज रानी केतकी की कहानी के समान मनोरंजन का साधन है। लोग कहते हैं चलो, खाली बैठे हैं थोड़ी गपसप की जगह अध्यात्म की चर्चा हो जाय। समय मिला तो राम की बात, नहीं तो काम की बात। सत्य तो यह है कि जब समय स्वयं निकाल कर हम राम की बात करते हैं बात ही नहीं करते, राम में घुलते हैं तभी वह जीवन में प्रभावोत्पादक होती है। नहीं तो काम की कृपा से थोड़ा समय

मिल गया तो फॉरमेलिटी के लिए राम की चर्चा छेड़ दी। वह थोड़ी देर तक मन का सुधार तो है, लेकिन उपेक्षित सतसंग कभी मन की सफाई नहीं कर सकता।

इसीलिए सतसंग के लिए आदर-भाव और महत्व की बुद्धि होनी चाहिए। महीने में एक ही दिन अध्यातम की चर्चा हो लेकिन पूरे मन से हो। जिम्मेदारी पूर्वक हो। केवल फॅरमेलिटी न हो तो वह मन का वन्धन करती है और हम मन के स्वरूप का आँकलन करने में समर्थ होते हैं। उक्त विवरण से दो तथ्य प्रकट हुए कि मन यदि विषवों मे जाता है तो सुखी होता है तथा यदि वहाँ न जाय, तो दुखी होता है। वुद्धि से सोचना चाहिये कि यह जो विषयगत होने पर सुखी हुआ था, वही वहा न जाने पर दुखी था। यही वह मन है। अतः इसे ही या तो अपनी बुद्धि पर बाधना है या इसकी दिशा आनन्द-तत्व की ओर मोड़ देनी है। मन का स्थायी इलाज भी वही है। बुद्धि के साथ उसके दायरे में मन का बंधन उसके स्वरूप को सममने का एक विलक्षण स्तर है। लेकिन मन को आनन्द की कक्षा में सम्मिलित करना अथवा मन के बौद्धिक स्तर से आगे चले जाना; यह आगे चले ज़ाने की क्रिया मन की साधना के तीसरे चरण से सम्बन्ध रखती है। मन का स्वरूप समझ में आ गया तो हम उसकी सीमा को लाँघ सकते है। सीमोल्लंघन भी तभी सम्भव है, जब हम बुद्धितत्त्व से उसे बांध कर आनन्द के चरणों में पूर्ण समर्पित कर दें। वह अपने आप आनन्दमय होकर अपनी गति-विधियाँ परमार्थ-मय कर लेगा या स्वयं लीन हो जायेगा। काम की कक्षा से कूदा हुआ मन यदि राम की कक्षा में नहीं जायेगा तो वह आराम ही नहीं पा सकता और मन के आराम न पाने का मतलब है पूरी जिन्दगी अशान्त हो जाना।

मन ऐसा निर्मल भया

ज्ञान की प्रक्रिया में मन इन्द्रियों के रास्ते से जाकर विषयाकार होता है और विषय का ज्ञानात्मक संस्कार लेकर आत्मा (बुद्धि) को देता है तथा स्वयं बुद्धि की डोर से बधा होने के कारण रागान्वित हो जाता है। यही रागान्वित मन ही भारी मन होता है जो आलस्य व प्रमाद को जन्म देता है या स्वेच्छाचारी बनने की बात करता है। वही संकल्प-विकल्प उसे नचाता रहता है। धन व स्त्री के लिए लोलुप व्यक्ति, या रजोगुणान्वित-चित्त वाले व्यक्ति को यदि मदिरा पिलाकर सुला दिया जाय तो वह भारी-भारी होकर सो तो जायगा किंतु जागने पर यदि उस पर सद्‌गुण का आरोप किया जाय तो वह स्वच्छंन्द होना चाहेगा। इसके लिए वह रजोगुण के परिणाम का अवलम्बन लेकर उसकी तुष्टि के लिए बेचैन हो जायगा। इसी रजोगुणात्मक मन को ही भारी मन कहते हैं तथा इसे हलका करना मन के संशोधन की प्रक्रिया है। संशोधित मन ही सरल होता है। वह पारदर्शी हो जाता है। मन में मैल जमने का क्रम हलके से भारी की तरफ है किन्तु स्वच्छ करने का क्रम विलोम है। यानी पहले भारी मन का निराकरण फिर उससे कम, फिर हलके मल का संशोधन। क्योंकि झीना मल सबसे निचला स्तर है। कोई व्यक्ति यदि चाहे कि वह शराब पीता रहे और पहले आलस्य, प्रमाद या नशा छोड़ दे, ऐसा हो नहीं सकता। पहले तमोगुण का त्याग जरुरी है। पुनः रजोगुण का कोमल स्तर आता है। इससे व्यक्ति की क्रियाशक्ति का संशोधन होता है। इसके बाद सात्त्विक मल आता है जिसके स्वरूप का संशोधन करना पड़ता है। वैसे सात्त्विक मल अधिक हानिकर नहीं होता। उसको मोड़कर हम परमात्मा की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। मल जमना

स्वाभाविक है, किन्तु मल का निराकरण भी स्वाभाविक होता है। मान लीजिए किसी दर्पण पर गंदलापन बैठ गया तो उसका क्रम विचित्र होता है। पहले किसी ने थोड़ी पानी की चिकनाहट कर दी फिर इस पर थोड़ी धूल जम गयी, पुनः जमते-जमते वह धूल की पर्त मोटी हो गयी, और दर्पण इतना गन्दा हो गया कि अपना चेहरा भी दिखना वन्द हो गया। यही तमोगुण से मन का आच्छादन है। किन्तु जव स्वच्छ किया जायेगा तो प्रथम धूल का मोटापन साफ किया जायेगा, बाद में धूल का हलका आवरण तथा अन्त में जल की चिकनाई। ऐसा स्वच्छ मन विल्कुल अपने स्वरूप का दर्शन आसानी से कर सकता है। ऐसे स्वच्छ मन को ही सरल व सीधा-सादा मन कहते हैं जिसमें रहने वाले प्रत्येक तत्त्व का पता साधक को चल जाता हैं।

वाराणसी के गंगा घाट पर एक बार कबीरदासजी वड़े गौर से पानी में झाँक रहे थे। वे कभी प्रसन्न हो जाते तो कभी उल्लसित हो जाते। उनकी आँखों में चमक थी, शरीर में पुलक था, हृदय में प्रेम उमड़ पड़ता था। एक व्यक्ति ने कबीर की इस हालत को देख लिया और पूछा—बाबा, आप गंगा में क्या देख रहे हैं ? कबीर की जैसे समाधि टूटी और वोल पड़े—मैं अपने मन को देख रहा हूँ। उसने कहा—आपका मन आपके शरीर में है और आप उसे गंगा में देख रहे हैं। कबीर बोले—मन को मैं मिला रहा हूँ जो विल्कुल गंगा के जल जैसा हो गया है। वे मस्ती में गा उठे—"मन ऐसा निर्मल भया, जैसे गंगानीर।" कबीर की समाधि-भाषा उस व्यक्ति की समझ में नहीं आयी तो कबीर समझाये कि तुम गंगा के निर्मल जल में देखो, सारी चीज अपने आप स्पष्ट हो जायेगी। उसने उत्सुकता-वश जल में देखा। कबीर ने पूछा—निर्मल जल में क्या-क्या दिखता है। वह बोला—जल, मछलियाँ, तल तथा प्रतिबिम्बित आकाश और भी बहुत सारी चीजें। कबीर ने पूछा—ये सारी वस्तुयें क्यों दिखती हैं ? उस व्यक्ति ने कहा—क्योंकि जल

बिल्कुल स्वच्छ है तथा पारदर्शी है। कबीर बोले, बस इसी तरह निर्मल व स्वच्छ मन होता है। यदि मन निर्मल हो जाय तो इतना पारदर्शी हो जाता है कि उसका अपना स्वरूप, उसमें उत्पन्न छोटे-छोटे कोमल संकल्पों का स्वरूप तथा उसके बीच में प्रतिबिम्बित आत्मा का स्वरूप सभी कुछ दृष्टिगत हो सकते हैं। गंगाजल में आकाश का प्रतिबिम्ब देखने के लिये छोटी-छोटी मछलियाँ बाधक नहीं है। हाँ, बड़ी-बड़ी मछलियाँ जब हलचल करके तल की ूल को जल में मिला देती हैं तो जल गंदला हो जाता है जिससे फिर न तो स्वच्छ जल ही दिखता है और न अपना व आकाश का प्रतिबिम्ब ही दिखता है तथा वे तैरने वाली मछलियाँ भी नहीं दिखतीं। इसी प्रकार मन में रहने वाले बुदबुद की तरह छोटे संकल्प जो बुद्धि के द्वारा विशेष विचारणीय नहीं हैं वे आत्मदर्शन में बाधा नहीं डालते, किन्तु जिस संकल्प में बुद्धि का विचार, जो तली की धूल के समान है, मिल जाता है, वह मन की स्वच्छता का बाधक है। इसी लिए सात्त्विक संकल्प परमात्म-प्राप्ति में बाधक नहीं क्योंकि उससे मन की सरलता का बाध नहीं होता। किन्तु अति-बौद्धिकता ही मन की सरलता को इतना जटिल कर देती है कि, न मन ही दिखता है और न मन के संकल्प। आत्म-दर्शन तो बहुत दूर की वस्तु है। इसीलिए दुनिया के प्रत्येक विचारक व तत्त्वदर्शियों ने मन की सरलता पर जोर दिया है। क्राइस्ट कहते हैं—वे महान् हैं जो सरल हैं क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है। भगवान बुद्ध ने, महाबीर ने तो मन की सरलता पर ही प्रयोग किये। इसीलिए कि उन सन्तों ऋषियों का मन सरल था, वाणी सरल थी, व्यवहार सरल था। वे पूर्ण निर्मल हो चुके थे। पूर्ण आनन्दमय हो चुके थे। उनका जीवन परमात्म-प्राप्ति के लिए विशेष आभ्यास नहीं करता था। वे भक्ति-युक्त थे। उनके सुन्दर नामसंकीर्त्तन से ही भगवान का, आत्मतत्व का प्राकट्य हो जाता था।

बौद्धिक-वितण्डावाद ही जीवन व व्यक्तित्व को जटिल बना देता है। ऐसा बौद्धिक व्यक्ति न तो स्वयं को समझ पाता है न आत्मा को। बुद्ध बिल्कुल सरल थे। किन्तु उनके दर्शन को धर्मकीर्ति आदि ने जटिल बनाया। महावीर अत्यन्त अहिंसक व सरल थे किन्तु उनके अनुयायियों ने पण्डितम्मन्यों ने महावीर को सप्तभंगी न्याय में डाल दिया। 'नमो अरिहन्ताणं' कितना साफ सुथरा उद्‌घोष है, वीतरागिता जीवन की जटिलताओं से बहुत दूर है। जहाँ सत्य का अनवरत विलास है। इसी प्रकार महर्षि गौतम ने जिस न्याय शास्त्र की रचना की, वह जिन्दगी का सरल सत्योन्मेष था, जो अत्यन्त निर्मल एवं निर्विवाद साधना का विषय था। किन्तु नव्यनैयायिकों ने गौतम के साधनासूत्रों की परम्परा को तिलांजलि देकर अपनी बौद्धिक जटिलताओं से अवच्छिन्न एवं व्यापकता को परिच्छिन्न कर दिया, मस्तिष्क उलझ गया उस तर्क के जंगल में, जहाँ कोई परिचित रास्ता न रह गया। सूत्रों में श्रद्धा है तो भाष्यों में तर्क का प्राबल्य। सूत्रों में अन्तर्मुखता है तो व्याख्यायें बहिर्मुख हो गयीं। भारतीय दर्शनों का विकास सरलता से जटिलता की यात्रा है, आत्मतत्त्व से बौद्धिकता की यात्रा है। वेदान्तियों ने कितने सरल एवं जीवन में उतारने लायक ब्रह्मसूत्रों को अपने बौद्धिक वमन से जहरीला बना दिया। खण्डन के खण्डखाद्य पकाने लगे और मण्डन का श्रृंगार बिखर गया। वाद-विवाद की विषैली परम्परा चल पड़ी। वैदिक कीर्त्ति को धर्मकीर्ति ने धूमिल किया तो धर्मकीर्त्ति की पताका शंकराचार्य ने ध्वस्त कर दी तो श्रीरामानुजाचार्य से भी न रहा गया वे शंकराचार्य पर ही टूट पड़े और अद्वैत को मटियामेट करके रख दिया। मध्वाचार्य आदि ने भी अपने-अपने बौद्धिक तर्क प्रयोग किये जो वस्तुतः चिन्तन को एक-एक दृष्टि मात्र देकर चलते बने आनन्द के शान्त क्षेत्र तक न जा सके। इन सबसे निश्चित अछूते रहे कबीर के गुरु स्वामी रामानन्द। जो खण्डन आदि से दूर राम भजन का ही उपदेश देते रहे, "जाति पाँति पूछै नहि कोई हरि को

भजै सो हरि का होई।" किन्तु हरि का होना भी विना मन की सरलता के अति दूर आकाश—कुसुम जैसा ही है।

यदि देखा जाय तो वेद की ऋचाओं की भाषा जितनी सरल है वैसी भाषा दुनिया के किसी बौद्धिक दर्शन की नहीं है। बिल्कुल सीधी-सादी। कि हर कोई समझ ले। जिसे हम आत्मानुभूति की भाषा कहते हैं। बिल्कुल रोड की भाषा। बुद्धि की जटिलता का कोई लेप नहीं, तथा परस्पर कोई विरोध नहीं। विरोध दिखता है तो क्षणिक है तथा वह तुरन्त दूर हो जाता है। वेद वस्तुतः समाधि की भाषा बोलते हैं। पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि की भाषा नहीं या वृहस्पति की भाषा नहीं। आत्मा की भाषा, आत्मा जैसी सरल एवं व्यापक होती है। वह व्याकरण के जटिल नियमों में नहीं बँधती, बल्कि व्याकरण ही उसके द्वारा अनुशासित होकर कृतार्थ होते हैं। पश्चिम के दार्शनिक छोटे-छोटे वाक्यों में अधिक गम्भीर बात को सरल ढ़ंग से कहने के लिए बेकन की बड़ी प्रशंसा किया करते हैं। किन्तु वे भूल जाते हैं कि हमारे वेदों की भाषा और सरल व गम्भीर है। यह उन ऋषियों की समाधि से निकली अमृतमयी अभिव्यक्ति है जो प्राकृतिक शब्द व अर्थ से निरपेक्ष हो चुके थे। जो बड़े-बड़े सम्राटों को भी शूद्र पद से सम्बोधित कर फटकार देते थे। धनाध्यक्षों कुबेरों के कृपाकांक्षी नहीं थे। बल्कि जो सम्पूर्ण प्रकृति को वशीभूत करके अपनी अनुभूतियों को विराट कर लिये थे। जिनका ध्यान ऐशोआराम वाले महालों में पाँच मिनट वाला नहीं था। युग-युग तक की दृढ़ स्थिति, मन व बुद्धि के पार अविचल स्थिति—कि शरीर बल्मीक हो गया, उसका मांस गल गया है, हड्डियों को कीड़े खा रहे है किन्तु समाधि है कि लगी हुई है। सहस्रों वर्षों के बाद जब सप्तर्षियों ने दीमक की बावी में ढंके हुए एक ब्राह्मण की समाधि को छुडाने का प्रयास किया तो बाबी में से ही राम की ध्वनि करते हुए उस ब्राह्मण ने अपनी आंख खोली तो आश्चर्य में पड़ गया। देखा—शरीर तो नष्ट हो चुका है किन्तु प्राणों को प्रकृति ने सुरक्षित कर

रखा है। उसकी आत्मा में चैतन्य का स्पन्दन हुआ और नव्य दिव्य शरीर प्रकट हुआ जिसे सप्तर्षियों ने बाल्मीकि कहा। उन बाल्मीकि महर्षि का हृदय कितना सरल होगा जिसकी समाधि अत्यन्त गहरी हुई। इसका पता तब लगा जब एक क्रौंच पक्षी के आर्तनाद पर उनका भावुक हृदय विकल हो गया। जो जितना ही सरल मन वाला होगा उसका हृदय उतनी ही जल्दी भावुक एवं करुण हो जायेगा। यह आप देख सकते हैं। कितने कवियों का मन इसी तरह हुआ। भावुकता मन की सरलता का परिणाम है। भक्त कवि बड़े सहज एवं सरल थे। उनका मन बड़े भोले बच्चे की तरह हो गया था। कवियों में ही रागात्मिका भक्ति का उदय हो जाता है। ऐसे रागात्मिकाभक्तिसम्पन्न कवि भारतीय सन्त हो गये जिन्हें भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार हुआ, जो उनके सरल हृदय व मन की भावुकता का फल था। उनकी वाणी-बिल्कुल सरल स्वाभाविक, समाधि के आनन्द में घुली हुई, सूत्रात्मक थी जिसका अर्थ आज का जटिल मानव कैसे लगा सकता है। वैदिक ऋषियों की वाणी कितनी सरल है जिसे आज के मिनी युग में अल्ट्रा माडर्न (अत्याधुनिक) कहा जा सकता है।

श्वेतकेतु आता है बुद्धि की जटिलता लिए हुये, तो उसके तत्त्वदर्शी पिता पूछते हैं कि पुत्र क्या तुमने वह भी पढ़ा जिसके पढ़ने से सब पढ़ लिया जाता है। यह कथन कितना रोचक सरल एवं जिज्ञासा-वर्द्धक है। आज की भाषा में कहा जाय तो हिप्नोटाइज करने वाला है। फिर पिता ने कहा—श्वेतकेतु 'तत्त्वमसि' वह तुम्ही हो। कितना सीधा एवं सरल वाक्य है। उपनिषदों में जो चार महावाक्य बताये गये हैं, उनकी भाषा विश्व की सबसे सुग्राह्य, सरल तथा शैली सबसे आधुनिक है। यह जटिलताओं की भूसी से निकाली गयी चावल सी नहीं है वरन् बिल्कुल ओरिजनल है। इतनी ओरिजनल एवं सरल कि कहीं भी तर्क-कुतर्क की गुन्जाइश नहीं, लेकिन गूढार्थ लिये है। इन चार महावाक्यों पर करोड़ों ग्रन्थ बुद्धि ने लिखे हैं, तथा बौद्धिक लोग लिखेंगे लेकिन अभी तक

विश्व में उसके समाधिमय अर्थ का खुलासा नहीं कर पाये तथा उस आनन्द को बाँट नहीं पाये जो इन वाक्यों ने स्वतः प्रकट होकर दुनिया में बाँटा। वैदिक भाषा बिल्कुल व्यवहार की रोड़ की भाषा है, जैसे कोई व्यक्ति प्रातः काल कहीं जा रहा हो और दूसरा उससे कहे—'थोड़ा रूको !' वह रुक जाय तो वह फिर कहे—'सूर्य को देखो ! क्या तुम सूर्य में कुछ देखते हो ? वह कहता हैं मुझे प्रकाश दिखता है। दूसरा कहता है—सूर्य में राम को देखो ! बगल में सीता भी हैं। वह कहता है—हाँ दिख गया उसका मुख किरणों से ढका है।" विल्कुल सरल, व परस्पर के बोलचाल की शैली है और यही मन की सरलतम स्थिति का द्योतक है। आश्चर्य तो तब होता है जब एक बार देवता, मनुष्य तथा राक्षस ब्रह्मा के पास गये कितने बड़े बौद्धिक, शास्त्रज्ञ, शायद नवों व्याकरणों के मर्मज्ञ रहे होंगे। किन्तु सीधे सादे ब्रह्मा जी ने एक अक्षर का उपदेश कर दिया जिसमें समग्र शास्त्रों का मर्म घुला था। ब्रह्मा ने कहा 'द' और सारे शास्त्रज्ञों वैयाकरणों ने इसका विवेचन किया, फिर भी भिन्न-भिन्न ही अर्थ निकाले। देवताओं ने अपने लिए 'दम' अर्थ लिया क्योंकि उनकी बुद्धि भोगासक्त थी उससे बचने का उपाय यही था और वैयाकरण वृहस्पति, इन्द्र, चन्द्र ने इसका अनुमोदन कर दिया। राक्षसों ने इसका अर्थ 'दया' लिया और बड़े शास्त्रज्ञ शुक्राचार्य तथा विरोचन आदि ने उसका अनुमोदन कर दिया। क्योंकि क्रूरबुद्धि राक्षसों के कल्याण के लिए 'दया' ही मात्र औषधि थी। मनुष्यों ने जिनकी बुद्धि लोभग्रस्त थी उस 'द' का अर्थ दान लिया और पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, गौतमादि ने उसका समर्थन कर दिया किन्तु ब्रह्मा का 'द' तो ब्रह्मा ही जानें। वह 'त' और 'प' की तरह शायद कुछ अपरिमित अर्थ वाला ही हो।

कहने का तात्पर्य यह है कि समाधि की भाषा सरल एवं अर्थ गूढ़ होता है। यद्यपि समाधिमान् पुरुष के लिए भाषा और अर्थ दोनों अधिक सरल होते हैं। क्योंकि उसका अन्तःकरण अतिसरल है।

मन की सरलता जीवन की अमूल्य निधि है। समाधि लाभ के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। सिर्फ मन को सहज सरल कर लो। समाधि घर बैठे लग जाती है।

"सहज विमल मन लागि समाधी।" देवर्षि नारद की समाधि प्रयास साध्य नहीं होती क्योंकि उनका मन सरल होता है। एक बार राम कह दिया, मन शान्त हो गया। आह्लाद से भर गया। मन की सरलता वैसे-वैसे सहज होती जाती है। क्योंकि सहज, सरल मन के मल विक्षेप व कषाय सभी कुछ निवृत्त हुए रहते हैं। उसे ध्यान में जाने की कठिनाई नहीं होती। ऐसे सरल मन के स्तर को लांघना भी नहीं होता क्योंकि वह स्वयं आनन्द का, आत्मा का स्तर बन जाता है। कबीर का व्यक्तित्व इसी सहजता से ओत-प्रोत था। इसीलिए वे मस्ती में कहा करते थे—'साधो सहज समाधि भली।' गोस्वामी तुलसीदास जी जब श्रीराम से मिले तो अत्यधिक सरल हो गये थे। वर्ण-आश्रम, दम्भ, पाखण्ड, मर्यादा आदि का बन्धन वे छोड़कर राम के सरनाम गुलाम वे हो गये थे। कहते थे—'धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।' और उन सन्त को यह भी परवाह नहीं थी कि लोग क्या-क्या कहेंगे क्योंकि वे राम के दीवाने राम-से साँचे हो चुके थे। राम से सच्चाई, बिना कपटराहित्य के नहीं होती। और कपटराहित्य, बिना सरलता के नहीं आता। "मोहि कपट छल छिद्र न भावा।" यह परमार्थप्राप्ति का सिद्धान्त है।

कूदो मगर मन के घाट से

आत्मा में डूबने के लिए कूदना पड़ेगा। लेकिन मन के स्तर से कूदना है तो मन के साथ कूदें या मन का साथ छोड़कर। मन के साथ भी गहराई में कूदने पर कोई नुकसान नहीं और मन के साथ न कूदने पर भी कूदना नहीं बनता। मन का साथ ही छूट गया तो कूदना कैसा और कहाँ कूदना फिर तो सब कुछ कूदा हुआ ही है। बिना तैरे ही तैरा हुआ हो जाता है। विना किये ही कर लिया जाता है। जैसे सब कुछ स्वयं घटित हो गया हो और दृश्य बिल्कुल अघटित सा रह गया हो। मन ही ऊर्जा है, उसी की एटामिक-शक्ति ही जीवन को गतिमान् करती है। कोई कहे कि मैं संचरण कर रहा हूँ किन्तु मन नहीं है तो समझो यह ढोंग है, 'मैं' चले और मन न हो, हो ही नहीं सकता। और जब मन चलने की शक्ति देता है तथा गति का कारण है तो गति के परिणामों का भी सामना जरूर करना पड़ेगा। ऐसा नहीं कि मन हिंसा भी करे और शरीर को या 'मैं' को उसका फल भोगना भी न पड़े। मन करेगा तो मन का सम्बन्धी भोगेगा। अच्छा या बुरा। मन नहीं करेगा तो मन का सम्बन्धी बच जायेगा। मन के साथ करने का तात्पर्य मन के खूँटे में बँध जाना। 'मैं' को मन के खूँटे में बाँध देना। मन से निष्पृह करने का तात्पर्य मैं (आत्मा) के खूँटे में, स्थायी स्तम्भ में मन को बाँधकर घुमाना। अर्जुन से श्रीकृष्ण ने कहा 'तुम मन के खूँटे में स्वयं को बाँधकर युद्ध मत करना वरना, मन के पाप-पुण्य कर्म-अकर्म से बच न सकोगे। मन के खूँटे में न बँधना ही निमित्तभाव है। श्रीभगवान कहते है—कि मन को छोड़ना मत किंतु मन को अपनी आत्मा के सुदृढ़ स्तम्भ में बाँधकर घुमाओगे तो बाद में स्वयं स्थिर रहकर मन के बन्धन को काट भी सकते हो, मन के दायरे से अलग भी हो सकते हो नहीं तो मन तुम्हे

स्वयं के दायरे से हटा देगा परमानन्द के धाम से बहिष्कृत कर देगा। इसका उपाय क्या है– मैं मन को कैसे बांधू ? श्रीकृष्ण कहते हैं कि मन को बाँधने के पहले तुम ही मन के बहकावे में न आकर अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाये रहो, यानी तुम एक मजबूत, कभी न डिगने वाले खूँटे में स्वयं बंध जाओ या बहुत कड़ी जमीन में स्वयं खूँटा बन कर गहरे गड़ जाओ, काम बन जायेगा। वह कड़ी जमीन मैं (कृष्ण) हूँ। मुझमें स्थित होकर, मुझसे स्थायी रूप से बँधकर ही तुम मन को बाँधने का उपक्रम करो। जैसे-जैसे तुम अपनी स्थिति मुझमें मजबूत कर लोगे वैसे-वैसे मन के बाँधने की फिक्र छूट जायेगी, और तुम्हारा मन स्वयं बंधन में आ जायेगा। इसका मात्र उपाय है— 'मामनुस्मर युध्य च।' यह उपाय मात्र मन की तरफ से निश्चिन्त हो जाना है। अर्जुन कहता है—क्या मन के बिना काम नहीं चलेगा ? भगवान कहते हैं—मन के बिना युद्ध कैसे जीतोगे ? सांसारिक जीत तो मन के सम्यक् उपयोग से ही होगी। जीत के लिए आधा अधूरा मन नहीं चाहिए। पूरा का पूरा मन होगा, तभी नाटक का रोल अच्छा बनेगा। रोल अच्छा करो, लेकिन समझो नाटक ही, जिसका सूत्रधार कोई अन्य है। अगर मन का विभाग हुआ तो रोल अच्छा नहीं बन पायेगा। मन की एकाग्रता ही रोल को सजीव बनाती है। नाटक की कार्यकुशलता तद्रूप हो जाने से होती है। लेकिन स्वरूप को विस्मृत मत करना। संसार के रोल में स्वरूप चैतन्य को विस्मृत मत करना लेकिन भगवत्सम्बन्धी नाटक में तद्रूप हो जाने पर स्व की अतिरिक्त स्मृति न रहने पर भी कोई हानि नहीं है। यदि सुलताना डाकू के रोल में तद्रूप होकर स्वरूप की विस्मृति हुई तो आत्मा का पतन निश्चित है किन्तु यदि भगवान के रोल में तद्रूपता की स्थिति आयी और स्वात्मविस्मृति हो गयी तो वह आनन्दमयता की स्थिति से च्युत नहीं होगा क्योंकि उसका मन पूरी तरह आत्मा के परिसर में निमग्न हो चुका है। वह भगवत्समुद्र में जल हो चुका होता है। एक बार एक स्थल पर श्रीरामलीला हो रही थी। एक आदमी

बड़ा भावुक था वह हर रोल के साथ तादात्म्यभावापन्न हो जाया करता था। एक दिन उसे नृसिंह का रोल मिला। उसमें दिखाया जाना था कि प्रह्लाद की रक्षा में नृसिंह भगवान ने हिरण्यकशिपु का उदर फाड़ डाला तथा प्रह्लाद को चूमा-चाटा। लीला के डायरेक्टर को उस भावुक व्यक्ति के भावावेश की स्मृति न रही, उसे नृसिंह बना दिया। जैसे ही उसने नृसिंह का वेश बनाकर गर्जना की, उसे नृसिंह का आवेश हो गया, और जो व्यक्ति हिरण्यकशिपु का रोल कर रहा था उसे उसने अपनी जांघ पर रखकर मार ही डाला। मारकर वह नाचा, तथा प्रह्लाद को चूमा, चाटा। लोग इस दृश्य को देखकर स्तब्ध रह गये। लेकिन थोड़ी देर में स्टेज पर पुलिस आ गयी डायरेक्टर को पकड़ा गया तथा वह व्यक्ति जिसे नृसिंह का रोल मिला था, रोल खत्म होने पर बहुत पछिताया। बुद्धिमान डायरेक्टर समझ गया तथा दण्डाधिकारियों से कहा कि जब तक पूरी राम-लीला न कर लूँ तब तक माफी दी जाय। उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गयी। जब रामावतार की कथा का मञ्चन होने लगा तो उस व्यक्ति को जो भावुक था उसे दशरथ का रोल दिया गया। वह दशरथ बनकर आया तथा जब भगवान श्रीराम का वनगमन हुआ तो वह इतना विरह व्यथित हुआ कि राम-राम करके उसने अपना शरीर छोड़ दिया। सभी उसकी गति से बड़े प्रसन्न हुए। इस कहानी का सारांश यह है कि यदि नाटक का रोल तादात्म्य होकर किया जाय तो लीला अच्छी बनती है। हृदयग्राहिणी बनती है लेकिन संसार का रोल करने में स्वरूप का अनुसंधान करना जरूरी है। और यदि भगवत्-रोल करना है तो बिल्कुल रोल में स्वविस्मृति भी अतीव आवश्यक है। भगवान् ने अर्जुन को तो यह कहा कि मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो किंतु गोपिकाओं से कब कहा कि मेरा स्मरण करते हुए रास मण्डल में नृत्य करो। वहाँ तो सम्पूर्ण मन का विलय हो चुका है। मन की ओर से पूर्ण निरपेक्षता है। गोपिकायें तो मन से निरपेक्ष हो चुकी हैं किन्तु भगवान का रास मननिरपेक्ष नहीं है। क्योंकि बिना मन

के रमण कैसे होगा। इसीलिए कहा—'मनश्चक्रे'। मन को बनाया। दिव्य मन बना। योग सम्पन्नमन बना। ध्यानकेन्द्रित मन बना। विषयों की ओर भागने वाला मन नहीं बना। गोपिकायें मन ही हैं किन्तु भगवान मनसम्पन्न हैं। आनन्द में रहने वाला मन आनन्द रूप ही है। राम में रमने वाला मन रामरूप ही है। इसीलिए दुःख में रहने वाला मन दुखरूप ही होता है। लोग कहते हैं कि क्या कहूँ मेरा मन दुखी है। लोग कहते हैं—मेरा मन सुखी है। यदि मन विषय की ओर जाता है तो उसे पकड़ना जरुरी है। यदि भगवान की ओर जाता है तो पकड़ो लेकिन उसे पकड़कर हृदय में लगाये हुए उसे प्रेम समुद्र में कूद जाओ और मन को छोड़ दो वहीं। अलग हो जाओ मन से। मन की जिम्मेदारी से। मन के बोझ से। मन का बोझ बहुत भारी होता है। मन का बोझ हिमालय से भी भारी होता है। मन का भार बड़े-बड़े वीरों को भी दबा देता है। लोग कहते हैं कि मन बड़ा भारी हो गया है। इतना बोझिल है कि उठ नहीं पा रहा हूँ। तथा शक्ति क्षीण जैसी हो गयी है। मन के बोझ से दबा-दबा वह रोने लगता है। कहते हैं एक बार रावण ने कैलास पर्वत को उठा लिया। कैलास पर्वत एक पौराणिक पर्वत है जो व्यक्ति के सात्त्विक मन का प्रतीक है। उसपर भवानी एवं शङ्कर जो श्रद्धा व विश्वास के स्वरूप हैं, निवास करते हैं। एक बार रावण ने जो मोह रूप है, कैलास को उठा लिया। कैलास का हिलना था कि शिव-पार्वती भी हिलने लगे। मानो मोह ने श्रद्धा व विश्वास की जड़ ही हिला दिया हो। श्रद्धा ने विश्वास की शक्ति को जगाया और शिव ने मोह को मन के भार से ही दबा दिया। इतना दबाया कि दशग्रीव रोने लगा जिसके कारण क्रन्दन से सृष्टि रोने लगी तथा उसका नाम रावण हो गया। "लोकान् रावयति इति रावणः।" सात्त्विक मन यदि प्रबल आत्मा के विश्वास से युक्त हो जाय तो प्रचण्ड मोह की शक्ति को भी मात कर देता है।

तो मन है महान उपयोगी तथा आत्म-सहचर। मन का सहयोग ही मन के क्षेत्र से बाहर ले जाता है। जब तक मन सहयोग नहीं

करेगा, व्यक्ति क्रिया-सम्पन्न नहीं हो सकता। बाह्य विषयों में मन का प्रवेश स्वतः हो जाता है। वह विषयों में जाता है तो 'प्रमाथि बलवद् दृढम्' होकर निर्विषयात्मक 'मैं' को भी घसीट ले जाता है। किन्तु उसका प्रथम प्रवेश यदि भगवच्क्षेत्र में होना है तो उसे जबरन् ले जाना पड़ता है। यदि जबरदस्ती न करेंगे तो वह जायेगा ही नहीं। संकुचित होगा किन्तु एक बार उसे जब उस परमाह्लाद का स्वाद मिल जाता है तो फिर स्वयं ही कूद जाता है अथवा उसमें डूब कर निकलता ही नहीं। उसमें ही गोते लगाता हैं तथा बाहर का व्यवहार करने में अन्यमनस्क जैसा हो जाता है। हिमालय के मस्त योगी बताया करते थे कि मनुष्य के शरीर में दो लिंग होते हैं। एक तो उपस्थेन्द्रिय तथा दूसरा जिह्वा। दोनों ही भग के लिए लालायित रहते हैं। एक के लिए तो 'भग' स्त्री के शरीर में होती है तथा दूसरे की 'भग', मुख में स्थित तालुमूल में ब्रह्म-रन्ध्र का द्वार होता है। वे कहते थे कि यदि एक लिंग का प्रवेश भग में हो गया तो दूसरे लिंग का प्रवेश बन्द होता है। यदि स्त्री योनि में उपस्थेन्द्रिय ने विलोडन कर लिया तो जिह्वा कभी भी खेचरी मुद्रा द्वारा ब्रह्मरंध्रद्वाररूप भग में प्रवेश नही कर पायेगी। और यदि ब्रह्मरन्ध्र से झरते अमृत का स्वाद रसना को मिल गया तो मन फिर स्त्रीयोनि की इच्छा नहीं करेगा। क्योंकि उसे विषयों से अनन्त गुना स्वाद मिल जाता है। पहले भय लगता है उस परम की गोद में बैठते, क्योंकि जन्म जन्मान्तर में उसने विषयों का स्वाद चखा है तथा परमात्मा के क्षेत्र में जाने पर उसका नाश हो जायेगा यह पढ़ाया गया है उसे। अतः वह अपना नाश कराने क्यों जायेगा ? क्योंकि विषयरसविशिष्ट मन, जो भगवद्रस विशिष्ट नहीं है, वह विषय के स्वाद से रहित होने पर, विशेषण के नाश से अपना भी नाश मान लेता है। यही भ्रम आत्मा के अनुसंधान में बाधक है। यदि इस नियम को मान लिया जाय तब तो शरीर-विशिष्ट-आत्मा को भी शरीर के नाश होने पर नष्ट

मान लेना चाहिए जो शास्त्र-संगत नहीं है। अतः मन को नाश का पाठ बहुत पढ़ा गया है। इसीलिए वह भगवत्-परिसर में जाना अपना नाश कराने जैसा मानता है किन्तु भगवद्रस में निमग्न मन अमृत है। शाश्वत सजीव हैं तथा आनन्द रूप है। मस्ती के क्षणों में वह समय-समय पर आह्लाद बनकर उभरता है। पूरा जीवन आनन्द के गीत गाने लगता है। कभी युगलगीत, कभी वेणुगीत कभी गोपीगीत आदि में उसका आनन्दमय रूप प्रकट होता है।

गोपियाँ 'तन्मनस्का' हैं। उद्धव से कहती हैं—'उद्धौ मन न भयो दश बीस।' एक हुतो सो गयो श्याम संग को अवराधै ईश ॥' मन एक था किन्तु वह श्याम के साथ चला गया है। वह नष्ट नहीं हुआ। वह श्याम के साथ गया है। श्याम अनन्त हैं। वहाँ जाकर मन भी अनन्त हो गया है। इसलिए उद्धव तुम श्याम से जाकर हमारा मन माँग लेना। लेकिन उद्धव कहते हैं—गोपिकाओं! तुम्हारेजैसा मन मुझे मिल जाय, यह तो तुम्हारी ही चरणकृपा से मुझे प्राप्त होगा। तुम्हारा मन कृष्ण कैसे दे सकते हैं वह तो उनका हो गया है। अब पृथक रहा कहाँ? मन उस ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित कर लेने के बाद ब्रह्म के क्षेत्र का स्वरूप ही बन जाता है तथा वहाँ से फिर विषय की ओर नहीं जाता। जिसे उस अनन्त रस की उपलब्धि हो गयी, उसका जीवन सीमित रस का अवगाहन कैसे कर सकता है। अतः जरूरी है, मन को लेकर ही उस परम आत्मरस में कूद जाना। जैसे—नन्ददासजी श्रीकृष्ण रस में कूद गये थे।

पूरा डूबा जल भया

वृंदावन की भक्तिपरम्परा में नन्ददास जी एक महान् संत हो गये। वे कृष्ण की पुष्टि भक्ति में एक अन्यतम नक्षत्र की तरह ही हैं। प्रारम्भ में उनका मन बहुत ही आसक्त था, वे एक रूपासक्त एवं कामुक व्यक्ति थे। कोई नयी नवेली सुन्दरी दिख जाती तो वे उसे बड़े ही आतुर-दृष्टि से निहारते रहते। जैसे कोई चकोर चन्द्रमा को निहार रहा हो। एक बार ब्रज के गाँव में एक नयी बहू आयी। वह बड़ी ही अलौकिक रूपवाली थी। वह जब कुएँ पर जल भरने निकलती तो लोग देख-देखकर बाग-बाग हो जाया करते। सौन्दर्य वस्तुतः मन का एक महान् बंधक है। सौन्दर्य-राशि यदि मिल गयी तो मन वहीं भ्रमर की तरह लगा रहेगा। चाहे व्यक्ति भूखा हो या प्यासा किन्तु सौन्दर्य को निर्मिमेष निरखता रहेगा। मन की सकल वृत्तियाँ एक बार अपने आप रुक जाती हैं। सोते-जागते खाते-पीते सकल कार्य करते हुए भी मन वहीं अटका रहता है। तो एक दिन नन्ददास को वह रूपवती व्रज-वाला दिख पड़ी तथा वे कुएँ से उसके पीछे-पीछे उसके घर तक चले गये। उस बहू के ससुर से कहा—तुम अपनी बहू का दर्शन करा दो। ससुर ने महात्मा की बात पूरी कर दी। वे उसे निरखते रह गये। अब उनका रोज का नियम बन गया कि रोज वे उस गृहस्थ के यहाँ किसी न किसी बहाने जाते और उस स्त्री को देखते तथा उससे बातें करते। वे उसमें रम से गये। गाँव में बात फैल गयी कि बाबा बहू पर आसक्त हो गया है। अपनी धर्ममर्यादा की रक्षा के लिए उस गृहस्थ ने बाबा नन्ददास जी को समझाया किन्तु सब बेकार। उन्होंने कहा—यदि तुम मुझे उसे देखने से मना करोगे तो तो मैं अनशन करके मर जाऊंगा। बड़ा धर्मसंकट खड़ा हो गया। उसने सोचा क्यों न इस बहू को जमुनापार भेज दिया जाय तथा

बैलगाड़ी पर बैठा कर चल दिया। बैलगाड़ी पर वहू तथा उसकी सास भी थी। नन्ददाम को पता चला तो वे भी अपना आसन-वासन लेकर उसके पीछे-पीछे चलते बने। गृहस्थ बेचारा संकट में पड़ा। वह जमुना के किनारे गया तथा नाव वाले को कुछ पैसा देकर कहा कि पीछे-पीछे बाबा आ रहा है वह पागल है उसे पार मत उतारना और वह नदी पार करके श्रीवल्लभाचार्य जी के मन्दिर में उनके दर्शन करने गया। नन्ददास बेचारे इस पार ही रह गये। लेकिन जब तीनों वल्लभाचार्य जी का दर्शन करने गये तो उन्होंने चार पत्तलों में भगवत्प्रसाद दिया। उन तीनों ने पूछा—गुरुदेव ! यह चौथा किसके लिए है ? तो उन्होंने कहा—वह जो नदी पर पड़ा है। चले तो तुम चारों साथ ही थे। वेचारे रोने लगे। बोले—भगवन् ! उसी के आतंक से ही तो आप के पास आये हैं। आप उसके लिए प्रसाद दे रहे हैं। आचार्य बोले--मानता हूँ वह रोगी है ? किन्तु उसका इलाज भी सम्भव है। अतः तुम जाकर उसे ले आओ। मजबूरन वह व्यक्ति नन्ददास को लाने गया। वे नदी पार बैठे थे। नाव वाले ने उस व्यक्ति के कहने से पार उतारा। वे आये किन्तु वल्लभाचार्य जी का दर्शन करने लगे। इधर वल्लभाचार्य जी की प्रार्थना से भगवान श्री कृष्ण ने अपना दिव्य सौंन्दर्य दिखा दिया। नन्ददास मूर्च्छित हो गये और उस रूप के दीवाने हो गये। इन्हें प्रेम समाधि लग गयी। बाद में जागे तो वल्लभाचार्य ने कहा—नन्ददास ! तुम्हें वह बहू कब से बुला रही है जाओ। अब नन्ददास बदल चुके थे। उनका रागा कुल मन कृष्ण के रूपसौन्दर्य में निमग्न हो चुका था। वह वहां से कैसे निकल सकता था और नन्ददास सदा के लिए ब्रह्म-रूप-रसमत्त हो गये। विषयरस सूख गया। मन का यही स्वभाव है कि वह पहले तो परमात्मा के पास जाता नहीं किन्तु जब जाता है तो पूरा जाता है। परमात्मा आधा अधूरा नहीं चाहता। आधा मन तो संसार चाहता है। तभी तो अधकटा मन विकल होकर इधर-उधर नांचता रहता है। कहीं उसे

पूर्ण तृप्ति नहीं होती । मन की कमजोरी यही है कि वह एक साथ सभी रसों का आनन्द नहीं ले सकता और सर्वरसों का आकर्षण उसे परेशान अवश्य करता है। यदि मन कर्णेन्द्रिय के साथ है और अच्छे गीत सुन रहा है तो उसी में झूम जाता है। किन्तु उसमें रहने वाला रूपदर्शन का लोभ दबा रहता है। सुखकरस्पर्श का स्वाद-लोभ भी मन में छिपा रहता है। वह तो अतृप्त ही रहता है। अतृप्त होकर भी राख में दबी आग सा थोड़ी देर दबा रहता है। जब गीत से मन ऊबेगा तो अवश्य ही ये सारी तड़पने प्रकट होंगी।

विषयों से मन ऊबता क्यों है ? इसका वैज्ञानिक पक्ष है कि यह थोड़ी देर आवेशात्मक होकर किसी एक राग से आबद्ध होकर किसी रस में लिपट तो जाता है किन्तु अन्य रसों की अतृप्तियाँ उसे निमग्न नहीं रहने देतीं वह एक विषय की डूब से ऊब कर अन्य की ओर भागता है। जैसे—एक पुरुष की कई प्रेमिकायें हो तो एक प्रेमिका के साथ एकान्त सेवन भी अच्छे ढंग से नहीं कर पाता क्योंकि किसी एक प्रेमिका में पूर्ण निमग्नता उसे अन्य प्रेमिकाओं का कोपभाजन बना सकती है अतः वह उसे छोड़कर दूसरी की तरफ भागता है। उसकी दौड़ निरन्तर बनी रहती है। जब तक वह थक चूर बेहोश न हो जाय अथवा शरीर से रहित न हो जाय या फिर सब कुछ छोड़कर सन्यासी न हो जाय, मन विषयों में आया भागता है। मन की अधूरी डूब ने ही वेश्यालय बनाये। उसकी आधी दौड़ ही करप्सन का कारण है। अधूरा टुकड़ा-टुकड़ा ही मन विषयों का रस ले पाता है। पूर्णरस लेगा तो हो सकता है उसे प्राणों से भी हाथ धोना पड़े।

एक रस में पूर्ण निमग्नता बहुत शीघ्र ही व्यक्ति को मन के परिसर से ऊपर उठा देती है अथवा उस रूप से विराग उत्पन्न कर देती है। मन अधिक दिन तक इसीलिए जीता है कि वह पूर्णरूपेण किसी रस का गुलाम नहीं हो पाता। आधा ही डूबता है, एक टुकड़ा ही आनन्द ले पाता है। मन के अधःपतन की चर्चा करने पर एक सन्त कहा करते थे, कि मछली एक रस में फँसकर

गिर जाती है मृग शब्द के पीछे मर जाता है, पतंगे रूप के पीछे दीवाने होकर अपना अस्तित्व खो देते हैं; हाथी स्पर्श-सुख के पीछे बन्धन-ग्रस्त हो जाता है, भ्रमर गन्ध का गुलाम होकर मारा जाता है किन्तु जो मनुष्य पाँचों रसों का एक साथ सेवन करता है वह क्यों नहीं मारा जायेगा उसका सर्वनाश तो होना ही है। मैंने कहा—महात्माजी मन इसीलिए जी रहा है कि वह आधे आधे मन से सभी रस लेता है। जिस दिन वह एक ही रस का गुलाम होकर डूब जायेगा उसीदिन उसकी मृत्यु है या उसका विलय होगा। मन जीवित है। इसीलिए है कि वह पाँचों में रमता है। जब वह एक में ही रमना शुरू कर देगा तो निश्चित ही अपना अस्तित्व खो देगा और अध्यात्म की साधना भी मन को एक ही रस में निमग्न करने की साधना है। जिस दिन रूप के पीछे दीवाना मन अन्य सभी रसों की उपेक्षा करके रूप के लिए दौड़ चालू रखेगा वह सचमुच प्रेम का परवाना बन जायेगा। वही नन्ददास बन सकता है। वही मजनू बन सकता है। अध्यात्म की यात्रा मजनू बन कर ही शुरू होती है। गन्तव्य एक हो तो अतिशीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। क्योंकि वह है ही बहुत निकट। किन्तु हम इतने गन्तव्यों में भटकें हैं, इतनी जिम्मेदारियों में भटके हैं कि अपना असली गन्तव्य पास होते हुए भी वहाँ एक कदम नहीं रख पाते।

विधाता ने जब मनुष्य की सृष्टि की तो पुकार कर कहा कि ऐ मानव! तुम्हारे हृदय की गुहा में तुम्हारा परम प्रियतम परमात्मा विराजमान है और उसी को तुम्हें प्राप्त करना है। उसी से मिलना है। जीव ने सोचा ब्रह्मा भी क्या कम बुद्धि का आदमी है। अरे! जो इतना नजदीक है, उसे क्या खोजने में परिश्रम करना? वह तो चट मिल ही जायगा। उसके लिए इतना निर्देश क्यों? उसकी खोज में इतने शास्त्रचिन्तन की आवश्यकता क्यों? जो बिल्कुल करीब हो उसके लिए इतनी माथा-पच्ची क्यों? वह जीव विधाता के भोलेपन पर हँसा भी था किन्तु जब संसार में आया, वह

यहाँ के चमत्कार से चमत्कृत हो गया तथा उसने परमात्मा की खोज ही शुरू नहीं की, उसके जीवन में लाखों गन्तव्य बन गये। वस्तुतः शास्त्रों, दर्शनों और विचारों का उपयोग, ब्रह्म को बताने में कम हैं, किन्तु जीवन के नानागन्तव्यों से मन को हटाने में अधिक है क्योंकि परमात्मा तो बिल्कुल करीब ही है किन्तु हमारा मन जगह-जगह टुकड़े-टुकड़े विभक्त हो गया है। लक्ष्यों की भीड़ में खो-सा गया है। एक प्रेमिका ने प्रेमी को फोन पर शिकायत की कि तुम कभी हमसे मिलते नहीं हो। कबसे मैं ढूढती हूँ तुम्हें! प्रेमी ने कहा अच्छा कल आना। जिस आफिस में तुम काम करती हो उसी के बिल्कुल बगल में मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा। प्रेमिका प्रसन्न हो गयी। उसने खुशी के तराने छेड़ दिये लगता था अब तो बस मिला ही मिला उसका प्रेमी। वह भावों में खो गयी। आफिस जाऊँगी, पहले उसके बगल वाले कमरे में अपने मन की इच्छायें पूर्ण करूँगी फिर अन्य काम करूँगी। कल तक करते-करते कल आया। उसने सुन्दर श्रृंगार किये। दशों बार दर्पण में चेहरा देखा तथा चल पड़ी। लेकिन उसके आफिस का मालिक रास्ते में मिल गया बोला जल्दी फाइलों का काम निपटा लो, आज बहुत काम है। और वह प्रेमिका अनमने भाव से जल्दी-जल्दी काम निपटाने में लग गयी। लेकिन संसार के काम जल्दी-जल्दी निपटते हुए दीखते भर हैं किन्तु उनकी श्रृंखला बढ़ती जाती है। उनके जल्दी-जल्दी निपटाने का स्वाद भी एक आनन्द देता है तथा नये काम में उल्लास पैदा करता है। वह प्रेमिका उलझ गयी जल्दी-जल्दी निपटाने में और इतना मशगूल हो गयी कि काम में कि शाम हो गयी तब उसे याद आया कि आज बगल वाले कमरे में उसका प्रेमी इन्तजार भी कर रहा था। वह बेचारी बहुत छटपटाई तथा जल्दी-जल्दी बगल वाले कमरे में गयी लेकिन अब क्या होता है उसका प्रेमी तो जा चुका था। उस कमरे के व्यवस्थापक ने बताया कि वह अभी-अभी निराश होकर गया है। वह प्रेमिका अपने को धिक्कारती

हुई रोने लगी। उसकी शिकायत भी अब मायूम हो गयी कि वह किस मुख से फिर शिकायत करेगी। इसी तरह जिन्दगी इतनी जिम्मेदारियों में खोई है कि बिल्कुल पास में बैठा हुआ आनन्द-कन्द परमात्मा भी नहीं मिल पाता, और जब बुठापा आता है तो चित्त-विश्रृंखलित हो जाता है, अब जल्दी एकाग्र नहीं होता, वह क्या करेगा अतः रोना ही शेष रहता है। सारी जिम्मेदारियाँ जवानी के पहले ही निपटा लो नहीं तो प्रियतम से मिलने का मजा नहीं आयेगा। दुनिया के सारे आध्यात्मिक-पथिकों ने जवानी में ही अपनी जिम्मेदारियाँ निपटा दी थीं। ईशामसीह तीस वर्षों में अपनी लौकिक जिम्मेदारियों से रहित हो गये थे। भगवान बुद्ध महावीर, संत कबीर, स्वामी रामानन्दाचार्य, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि भगवत्तत्त्वज्ञों, सन्तों ने भी युवावस्था में ही अपने मन के सारे गन्तव्यों को बन्द कर दिया था। एक लक्ष्य लेकर बढ़े और उसी पर समर्पित हो गये। ब्रह्म का चिन्तन करते-करते ब्रह्म ही हो गये थे। राम को गन्तव्य बनाकर स्वामी रामानन्द स्वयं राम ही हो गये थे।

मन का लक्ष्य होना ही उसमें चमक पैदा करता है जिसका उजाला पूरे विश्व को आलोकित करता है। इसलिए शास्त्रचिन्तकों ने बहुज्ञता को मूर्खता कही है। तथा विशेषज्ञता तो सिर्फ एक के ही जानने में हो सकती है। पतिव्रता के धर्म और मन की साधना में कोई अन्तर नहीं है यदि मन में पतिव्रता स्त्री की एकनिष्ठता आ जाय तो परमात्मा तुरन्त वहीं प्रकट हो जायेगा उसके लिए विशेष प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी।

चित्त के तीन दाग

वस्तुतः मानवचित्त पर तीन तरह के संस्कार बड़े गहरे पड़े हैं। एक तो काम का संस्कार दूसरा करुणा का संस्कार तथा तीसरा अहम् के आहत होने का संस्कार। ये तीनों बड़े गहरे हैं किन्तु काम का संस्कार अधिक गहरा तथा बहुत दिन तक चलने वाला है। यदि देखा जाय तो काम का संस्कार जीवन का मूलभूत संस्कार है। क्योंकि व्यक्ति की उत्पत्ति में मुख्य प्रयोजक काम ही है। काम के संस्कारों से जुड़े मन के संकल्पों के अनुसार शरीर में तदनुरूप क्रियायें हुआ करती हैं। शुक्र और रज के मिलन की भौतिक क्रिया मात्र भौतिक ही नहीं किन्तु पूर्ण मानसिक एवं बौद्धिक है। जो अन्तर्मन में गहराई से फैल जाती है। व्यक्ति की कामुक प्रवृत्तियों तथा उससे उत्पन्न मैथुन-क्रियाओं की आवृत्ति एवं आलम्वनों का सूक्ष्म संस्कार वीर्य-रज में मिल जाता है जो भ्रूण में जीवाशा के साथ ही नाना अर्थों को प्रकट करने वाला बन जाता है, तथा व्यक्ति की मौलिक व आरोपित समस्त प्रवृत्तिओं को प्रेरित करने वाला बन जाता है। अतः सेक्स का एक थोड़ा सा सम्वेदन चित्त को आन्दोलित कर देता है क्योंकि चित्त का निर्माण ही राग की अस्मिताओं से हुआ है। चित्त तो पहले चित्त था, किन्तु कामनाओं के सस्कारों ने उसे चित्त करके रख दिया। काम के उद्दीपन व आलम्बन तथा क्रियानिष्पत्तियाँ अति गहरे संस्कार बनकर चित्त की भूमि रंग देते हैं। चित्त का उल्लास बढ़ जाता है। सेक्स के दृश्यों को देखकर मानो उसका बड़ा अपनत्व है सेक्स से, जैसे किसी परिवार का भूला भटका सदस्य मिल जाय तो व्यक्ति उल्लास से भर जाता है और आन्दोलित होकर नृत्य करने लगता है। ठीक वैसे ही शरीर की सजावट की प्रवृत्ति चेहरे की चमक, आँखों की चंचलता ओठों की मुस्कुराहट ये भाव स्वतः ही

चित्त की कामवृत्ति के परिणाम हैं। यही कारण है, कि मन हमेशा नया नया देखने का आदी हो जाता है। उसे एक स्थल पर रुकना बड़ा खराब लगता है। मन की इसी कमजोरी का लाभ उठाकर सिनेमा का व्यापार चल रहा है। प्रदर्शनियों की चहल पहल चल रही है। सेक्स का आलम्बन व उद्दीपन ही, दुनिया की बाजार के मुख्य आकर्षण हैं। सारी हाट उस दिन फीकी हो जायेगी जिस दिन काम का आलम्बन बेकाम हो जायेगा। दुनिया के सारे मेले श्मसान हो जायेंगे जिस दिन सेक्स का खेल समाप्त हो जायेगा। एक बार कलकत्ता के एक बाजार में प्रदर्शनी लगी थी। उस प्रदर्शनी के दो भाग थे। बीच में एक पर्दा था। गेट पर टिकट बाक्स था। नियम लगा था कि एक ओर केवल पुरुष वर्ग जायेंगे, दूसरी ओर स्त्रियाँ जायेंगी। पुरुष स्त्रियों के साथ नहीं जा सकेंगे। उन्हें देख भी नहीं सकेंगे। एक दो दिन तक उस प्रदर्शनी के बुकिंग आफिस पर भीड़ हुई किन्तु उसके बाद उसे घाटा ही घाटा होने लगा। लोग प्रदर्शनी देखते, और कुछ गम्भीर, कुछ मुँह लटकाये हुए एकाकी वापस आ जाते। पुरुषों ने तो धीरे-धीरे जाना ही बन्द कर दिया, और स्त्रियों ने भी लगभग नाक-भौंहें सिकोड़ लिये। प्रदर्शनी के मालिक ने मुझसे पूछा—कि स्वामीजी कोई यन्त्र बना दीजिये कि मेरी प्रदर्शनी में भीड़ हो। दुनियाँ की निगाहें महात्माओं के पास चमत्कार ही देखती है तथा यन्त्र ही चाहती हैं लेकिन महात्मा के पास चमत्कार नहीं होता। वह तो स्वयं में ही एक चमत्कार होता है। खैर मैंने जाकर निरीक्षण किया देखा प्रदर्शनी बड़ी अच्छी सजी है। कोई कमी नहीं, लेकिन विचार किया कि क्या कारण है कि भीड़ नहीं हो रही है। मैंने देखा उसमें मनोवैज्ञानिक कारण था। उस मैनेजर को बुलाया और पूछा तुमने बीच में परदा क्यों लगारखा है। उसने बताया कि पुरुष-स्त्री परस्पर शरारत न करें अतः दोनों का क्षेत्र अलग-अलग कर दिया है। मैंने कहा यदि प्रदर्शनी चलानी हो तो दो काम करो। प्रदर्शनी के परिसर में चाय-नाश्ते की दूकान लगवा दो तथा बीच का परदा हटा

दो, फिर देखो! बुकिंग-आफिस पर भीड़। वह बड़ा आश्चर्य में पड़ गया तथा वैसा ही किया। और ताज्जुब कि उसके यहाँ भीड़ संभालनी कठिन हो गयी। उसने पूछा—ऐसा क्यों हुआ? मैंने कहा—पुरुष व स्त्रियाँ केवल प्रदर्शनी ही देखने नहीं आते वे परस्पर किसी शक्ति से प्रेरित होकर आते हैं। तथा उसका संचालक कोई सामान्य सम्वेदना नहीं है। वे परस्पर एक दूसरे को देखने, छूने, बात करने भी जाते हैं क्योंकि इस जगत् में मन की अधिकांश क्रियायें उसकी मौलिक शक्ति से प्रेरित हैं और वह, काम की शक्ति है।

गुजरात में गरबानृत्य का बड़ा प्रचलन है। एक दिन विशेष गरबा हुआ, जिसमें पहले तो लड़के व लड़कियों का सामूहिक नृत्य प्रस्तुत हुआ, किन्तु बाद में एक श्रृंगारिक नाटक प्रस्तुत किया गया, जिसमें लड़कियाँ ही लड़कों का रोल प्रस्तुत कर रही थीं। लेकिन दर्शकों ने देखा तो बड़ा आश्चर्य था। लड़के तो बैठकर ताली बजा रहे थे किन्तु लड़कियाँ धीरे-धीरे खिसक चुकी थीं। मैंने एक व्यक्ति से पूछा कि ये लड़कियाँ क्यों बिना देखे चली जा रही हैं? उसने मजाक में एक मनोवैज्ञानिक सत्य कह दिया। कहा—लड़कियों का डान्स क्या देखें। वास्तव में काम का संस्कार चित्त में इतना गहरा बैठा हुआ है कि वह काम का सम्वेदन बहुत शीघ्र ही ग्रहण कर लेता है तथा अति शीघ्र ही द्रवीभूत हो जाता है। यह काम ही मन को नये-नये आकर्षण की ओर बाँधता है तथा हर वक्त नया ही खोजता है। कोई गुलाब का फूल यदि थोड़ी देर तक मन को अच्छा लगता है तो दो मिनट में वह मसल कर फेंक दिया जाता है क्योंकि उसकी नवीनता पुरानी हो जाती है। मन किसी लौकिक सौन्दर्य में एक बार रमता है तो थोड़ी देर में वह वहाँ से हट जाता है तथा दूसरे सौन्दर्य की ओर चला जाता है। हमेशा परिवर्तित दृश्य चाहिए मन को। सिनेमा के बदलते हुए रील, मन की इसी कमजोरी के परिणाम हैं। मन बँधा रहता है वहाँ। ऊबता नहीं। इसीलिए सौन्दर्य की परिभाषा ही है कि "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपम् रमणीयतायाः।" जो क्षण-क्षण

नया हो, और मन को बाँधे रखे, वही सौन्दर्य है। परमात्मा का अचिन्त्य सौन्दर्य इसी तरह का है। मन उस शाश्वत नव-नव सौन्दर्य के साथ जुड़ा कि बँध गया वहाँ, लट्टू हो गया उस पर। फिर क्षण भर नवीन तथा क्षण भर प्राचीन, इस लौकिक सौन्दर्य की ओर वह आना भी पसन्द नहीं करेगा। तो काम की सम्वेदना मन के स्तर को नवीनता की खोज कराती है तथा उसके आह्लाद को हरा-भरा रखती है।

किन्तु करुणा की सम्वेदना थोड़ी भिन्न है। वह चित्त में गहरी बैठती जरूर है किन्तु एक निर्वेद को जन्म देती है, जो कभी-कभी मन को जड़ीभूत भी करता है। करुणा एक सात्त्विक विकार है जो चित्त व मन के सरलतम रूप का द्योतन करता है। जो चित्त जितना ही सरल होगा वह उतनी ही जल्द कारुणिक हो जायेगा। काम में चित्त फैलता है, आवेशित होता है किन्तु करुणा में चित्त पिघलता है। चित्त एक पत्थर की तरह है, काम उसे गरमा सकता है, लेकिन करुणा तो उसे मोम बना देती है। काम में समर्पण तो है किन्तु जरूरी नहीं वह उदार भी हो किन्तु कारुणिक व्यक्ति बिना उदार हुए रह नहीं सकता। कभी-कभी तो काम की प्रवृत्ति व्यक्ति को क्रूर भी बना देती है और यह देखा भी जा रहा है। काम चित्त का विकास तो है, परिवर्त्तन नहीं ! किन्तु करुणा ! करुणा चित्त का जल हो जाना है। सेक्स पर विदेशों में लाखों प्रयोग हुए और हो रहे हैं किन्तु करुणा निष्प्रयोगिक प्रयोग है। उसकी प्रयोगशाला मात्र हृदय ही है। वह एक-एक प्रकट होती है और अपना कार्य करके हृदय के गहरे अतल में खो जाती है। काम के लिए तैयारी की जरूरत है किन्तु करुणा के लिए पूर्वायोजन की आवश्यकता नहीं। सेक्स के क्लब बहुत मिलेंगे। काम की सम्वेदनायें पैदा भी की जाती हैं और नया-नया कृत्रिम आनन्द भी मिल जाता है। पश्चिम-जगत् तो अब पशुता की स्थिति को भी लांघ गया है। मानवता के सारे अनुबन्ध उसने तोड़ दिये हैं। प्रौढ़ों से कुमारियाँ कुमारों से

प्रौढ़ायें, नवयुवकों से वृद्धायें वृद्धों से नव युवतियाँ, तथा स्थूल से स्थूल प्रयोग किए जा रहे हैं। किन्तु करुणा का कोई क्लब नहीं, करुणा का कोई प्रयोग नहीं, प्रयोग में बदलते इन्टरेस्ट नहीं, वह स्वतः उद्भूत एक अनिवार्य चित्त की विकृति है, जो सहज-सरिता का उमड़ता प्रवाह है। किसी दीन दुखी गरीब को देखकर मन में एकाएक उसकी दयनीय दशा अंकित हो जाती है और चित्त बहने लगता है। व्यक्ति विवश हो जाता है सहायता करने को। शरण में आये हुए की रक्षा करुणा की ही उपज है। भगवान बुद्ध का मन, उस घायल राजहंस को देखकर बहने लगा था, अपने आँसुओं से सींच दिया था उस हंस को। कभी-कभी तो व्यक्ति प्रेम के या काम के अति प्रबल सम्वेदन को भी करुणा के सन्दर्भों में भुला देता है कि वह किसी के प्रेम में तड़फड़ा रहा है। उसे विस्मृत हो जाता है कि वह किसी की आकुलता से प्रतीक्षा भी कर रहा है।

भगवान श्रीराम जब अपनी प्राण-प्रिया जानकी की खोज करते हुए विलाप कर रहे थे तब वे प्रेम-विह्वल होकर अपने छोटे भाई से सीता के बारे में अत्यधिक अमर्यादित सी बातें कर रहे थे। लगता था कि कोई महाविरही तथा अतिकामी हो किन्तु थोड़ी देर में उन्हें घायल गृद्ध की आवाज सुनाई दी। वे उस तरफ दौड़े और उस दुःखी मृत्यु के मुख में जाने को तत्पर गृद्ध को देखकर अपनी प्रिया को भूल गये। गृद्ध को उठाकर गोद में रख लिया, उसके शरीर में लगी धूल को अपनी जटाओं से झारी, उसका सिर आँसुओं से धो दिया। यह करुणा का सम्वेग काम व प्रेम की वृत्ति पर विजयी हुआ था।

ठीक ऐसे ही जब बुद्ध महानिर्माण करने वाले थे तो उनके शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी, सभी उस महान पथद्रष्टा का अन्तिम दर्शन करने आये थे। कुछ मुख्य-मुख्य शिष्यों को पास में बैठाकर बुद्ध आज कुछ गम्भीर मुद्रा में बैठकर बातें कर रहे थे। उनके एक प्यारे शिष्य ने पूछा भगवन्, अब तो मुक्त हो रहे हो, उसके लिए आपको कोटि-

कोटि बँधाई है किन्तु हम सभी को शोक के सागर में छोड़े जा रहे हैं। बुद्ध का हृदय उसकी बात सुनकर भर आया और उन्होंने कहा भन्ते ! शोक-सागर में तो प्राणि समुदाय डूबा हुआ है। कोई माँझी कभी मिलता है तो ज्ञान की नाव पर बैठाकर समुद्र में ही उभरे रेत के टीले पर छोड़कर चला जाता है। बाद में वह टीला भी वह जाता है और समुद्र ज्यों का त्यों लहराता रहता है। कोई ज्ञान-शाली ही उस नाव से वँध जाता है और डूबे हुए तैरता रहता है। दुख की नियति अजीब है। किन्तु आज बुद्ध आवेश में बोल रहे थे। वे बोले ! साथियों ! 'मैं मुक्त नहीं हो रहा हूँ।' सबकी निगाहें बुद्ध के मुख की ओर आतुरता से लग गयीं। उन्होंने एक नाद किया 'जब तक इस पृथिवी पर एक भी दुखी व्यक्ति रहेगा मैं तब तक जन्म लेता रहूँगा, संसार की सेवा के लिए एक ही शरीर काफी नहीं है। यह यात्रा अनन्त है। अनंत शरीर धारण करूँगा मैं।" सबको महान् आश्चर्य व हर्ष हुआ। वस्तुतः बुद्ध की करुणा शाश्वत एवं अनन्त हो चुकी थी। वे प्राणिमात्र के कष्ट को दूर कर देना चाहते थे। करुणा का इतिहास व्यक्ति के मन की गहराई का इतिहास है। आत्मा के तल पर पहुँचा हुआ मन अनन्त करुणा का वितरण करता है। भारतीय पुराणों में कथा आती है कि दैत्यों के राजा बलि को जब वामन भगवान ने पूछा कि आप क्या चाहते हैं—राज्य चाहते हैं, स्वर्ग चाहते हैं या मोक्ष चाहते हैं तो बलि ने उनसे यही कहा था—कि मुझे न राज्य चाहिए, न स्वर्ग न मोक्ष, किन्तु मैं चाहता हूँ कि समग्र प्राणियों के हृदयों में बैठकर उनका दुःख स्वयं मैं भोगूं। संसार की समग्र पीडायें मेरी हो जाँय। यह करुणा का विश्वव्यापक अर्थ है। तथा अन्तःकरण की उदारता का चरम दृष्टान्त है जहाँ सेक्स की प्रवृत्ति जहाँ अभिमान की प्रवृत्ति, जहाँ स्वार्थ की प्रवृत्ति, सबकुछ दब गयी है या तिरोभूत हो गयी है।

करुणा अपने आप में चित्त की वह उदार, व्यापक गंगा की तरह पवित्र एवं उपकारक व्यवस्था है, जहाँ मात्र बहना ही बहना है,

पिघलना ही पिघलना है। यह मनोविज्ञान का एक आश्चर्य जनक तथ्य है कि बुराइयों में लिपटा हुआ मन, जो उनमें सुख की भावना भी करता है, वह भी लोकोपकार की व्यापक भावना से युक्त देखा जाता है अर्थात् करुणा की सरिता में स्नान करता देखा जाता है। दुनियाँ में बुराइयों का मात्र प्रतिनिधि रावण है जिसे हम जब भी याद करते हैं तब उसे हम समाज के विरोधी कार्य के लिए ही याद करते हैं। अतिकाम, अकारण विरोध ही रावण का स्वरूप है। किन्तु वह शास्त्र का महान पंडित था। जहाँ विश्व की समग्र पंडितो की मंडली चिल्ला-चिल्लाकर कहती है कि साहित्य की प्राप्ति से व्यक्ति में दिव्य गुणों का विकास होता है, वही रावण इसका अपवाद है। वह पांडित्य में वृहस्पति से भी आगे है। वेदज्ञ है किन्तु अत्यन्त क्रूरकर्मा है। उसके पास तथाकथित पांडित्य की परिभाषा ही अव्याप्त हो जाती है। हिंसा का तो मानो वह प्रवर्त्तक ही है, क्रूरता का ज्वलन्त मानदण्ड ही है किन्तु बाह्यता। यह सब होते हुए उसकी वास्तविकता कुछ और है और उसकी असलियत पर आश्चर्य भी होता है। उसने एक शिव ताण्डव स्तोत्र लिखा। उसके अन्त में कहा—हे शिव मैं कब साम्य में अवस्थित हुआ, शिव का भजन करूँगा तथा अपनी दुर्गति से मुक्त हो जाऊँगा। लगता है उसको अपने क्रूर कर्म से दुर्गति से, अशिव कर्म से नफरत हो गयी। एकबार शिवजी प्रकट हो गये और बोले—क्या अब तुम्हें आसुरी वृत्ति में आनन्द नहीं मिल रहा है।" वह बोला—प्रभो ! वह तो मन पर आरोपित मात्र है वह वास्तविक नहीं है, वास्तविकता तो समत्वबुद्धि ही है मैं इसे स्वयम् समझ गया हूँ। वास्तविकता शान्ति है, लहरों का उत्थान-पतन तो परिस्थितियों की उपज है। एक तूफान से जन्य है वस्तुतः समुद्र के जीवन में ज्वार भाटे तो तूफानों ने पैदा किये। रावण की यह बाह्य-क्रूरता किसी तीव्र पूर्व संवेग की उपज थी। पूर्व जन्म में रावण को ब्राह्मणों ने बहुत सताया था यहाँ तक कि उसे राक्षस तक बना दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्हीं ब्राह्मणों के पीछे हाथ धोकर पड़ गया।

लेकिन जब उसका बदला चुक गया, वह शान्ति की स्थिति में हुआ तो उसे ग्लानि हुई तथा शिव से उसने शिवत्व की प्रार्थना की लेकिन शिवजी ने बताया कि निरीह प्राणियों, निर्दोष जीवों का दैत्य आक्रोश अब राम होकर प्रकट हुआ है। उसी अग्नि में तू जलकर शिवत्व को प्राप्त हो जायेगा। इसी प्रकार बलि भी है दैत्यों का राजा किन्तु उसकी बुद्धि, प्राणियों के दुःख दर्द झेलने की कामना करती है। वस्तुतः सत्त्व गुण का अस्तित्व अनन्त और व्यापक है। करुणा सत्व गुण की ही उदात्त भावना का परिणाम है। किन्तु सेक्स रजो गुण की विकृति है इसीलिए उसमें संकोच भी है स्वार्थ भी है।

लेकिन अहंकार की भावना, तमोगुण यानी अज्ञान की अभिव्यक्ति है। वह भी चित्त में एक प्रगाढ छाप छोड़ती है। मनुष्य का जीवन बहुत शान्त था। बिल्कुल शान्त समुद्र की तरह। किन्तु तरंगित हुआ। उसमें लहरें आयीं। अशान्त हुआ। क्यों? जरुर किसी ने शान्त जल में बड़े पत्थर का टुकड़ा फेका होगा। छोटा तालाब यदि शान्त हो तो उसमें मिट्टी का टुकड़ा फेकने पर वह क्षुब्ध या तरंगित हो जाता है। जितना बड़ा पत्थर होगा उतना ही विक्षोभ होगा। चित्त की भूमि भी कुछ इसी तरह है। बिल्कुल शान्त अवस्था में रहने पर भी यदि कोई अपमान का बड़ा पत्थर फेंकता है तो उसका अहं बड़े वेग से आन्दोलित हो जाता है और अशान्त हो जाता है। 'मैं' का तिरस्कार जीवन को गहरे आघातों से संस्कारित करता है। व्यक्ति कभी-कभी बड़े महान्, महान कार्य भी, अहं को ठेस लगने से कर देता है। संसार में बड़ी-बड़ी संरचनायें, बड़ी-बड़ी योजनायें 'मैं' के आन्दोलन होने पर ही होती हैं। महात्मा गांधी को कितनी बार अंग्रेजों की लांक्षनायें झेलनी पड़ीं तथा उन्हें अंग्रेजों ने कितनी बार काला कहकर अपमानित किया—कहा-तुम गुलाम हो, तुममें शक्ति नहीं है और गांधी के अहं को ठेस लगी। मानो पूरे देश का अहं अपमानित हुआ क्योंकि गांधी का व्यक्तिगत अहं राष्ट्र के समष्टिगत अहं से मिल गया था। वह आन्दोलित हुआ। और वही देश की

आजादी में औषध बन गया । महामनाजी बड़े ही तितिक्षु एवं विरक्त थे । वे पूजापाठ में अधिक रुचि लेने वाले एक तपस्वी ब्राह्मण थे लेकिन एक बार उनकी अस्मिता को मुसलिमविश्वविद्यालय ने ठेस पहुँचायी, और जिसका परिणाम हिन्दूविश्वविद्याय का निर्माण है । उनसे कई व्यक्तियों ने प्रार्थना की, कि आप हिन्दू शब्द निकाल दीजिये तो वे कहा करते पहले मुसलिमों से कहों कि वे मुसलिम शब्द निकाल दें । वे कहते थे कि हिन्दू शब्द जिस दिन हटेगा उस दिन मैं ही संसार से हट जाऊंगा और यदि मैं हिन्दू शब्द हटा भी दूँ तो मेरे हृदय का घाव कैसे भरेगा जो मुसलिम मानसिकता से पहुँचा है । संसार की हर प्रकार की उन्नति, किसी न किसी प्रतिक्रिया का परिणाम है । वह उतना है, तो हम और आगे बढ़ेंगे । किसी लखपति ने किसी हजार पति को अपमानित कर दिया तो हजार-पति आगे बढ़कर विरला हो गया । टाटा हो गया । संसार का फैलाव प्रतिक्रिया का ही परिणाम है । जगत् की इस त्रिगुणात्मक यात्रा में हर आदमी प्रतिक्रियाओं का प्रतिफल भोग रहा है । उसका हर पग-संचरण किसी न किसी के पग-संचार का सापेक्ष परिणाम है ।

चित्त का राग या बैराग्य दोनों ही आघातों के संस्कार से जनमता है । राग के संस्कार इसलिए गहरे हैं कि किसी विराग के छिछलेपन ने उसे जरुर व्यथित किया होगा । वैराग्य के संस्कार इसलिए अधिक गहरे हैं कि किसी राग ने अवश्य ठोकर मारी होगी । रागी आदमी तबतक अपना रागीपना नहीं छोड़ता जब तक उसे राग का पाद-प्रहार नहीं मिलता । लेकिन चित्त की कोमल भूमि में अगर राग के द्वारा लगे घाव ही वैराग्य के जनक होंगे, तो ऐसा वैराग्य भी घाव भरते ही हवा हो जायेगा । जंगल तभी तक अच्छा लगेगा जब तक मोह के घाव भर नहीं जाते । इसलिए वैराग्य की पृष्ठभूमि प्रतिक्रियात्मक नहीं होनी चाहिए । वह निर्विवाद एवम् निश्चित लक्ष्य को ध्यान में रखकर होनी चाहिए । जब तक काम की उद्दाम वासना मन की भूमि में नदी की तरह लहर मार रही होगी तब तक वैराग्य

की क्षणिक आवृत्ति लोमड़ी के खट्टे अंगूरों की प्रकिध्वनि मात्र होगी।

उत्तर भारत के देहात की एक घटना है। एक गाँव में एक महात्मा गये। वे बड़े त्यागी और समाज के शुभ चिन्तक थे। गाँव में ठहरे तो कृषकों ने बड़ा स्वागत किया। रोज-रोज भण्डारे चलने लगे। सुन्दर भोज का मानो राज्य हो गया। एक मजदूर रोज हल जोतता और शाम को किसी तरह से रोटी मिल पाती। उसने सोचा मैं भी वैराग्य ले लूँ तो रोज तस्मई घोटूं। उसने महात्मा जी से कहा—महाराज हमें भी साथ ले लीजिए। हम भी घर छोड़कर साधु हो जायेंगे। सन्त ने कहा—बेटा! वैराग्य में बहुत कष्ट होता है तू नहीं सह सकेगा। उसने सोचा बाबा जी हमें बहका रहे हैं। खुद तो रोज-रोज तस्मई मालपूरी छानते हैं जो हम लोगों को नसीब नहीं होती और कहते हैं वैराग्य में बहुत कष्ट है। उसने कहा—स्वामी जी जो भी हो, हमें यह घर अच्छा नहीं लगता, हम आपके साथ चलेंगे। महात्मा ने उसका हठ देखकर साथ ले लिया। पहले लोग पैदल ही घूमा करते थे। सवारी के अधिक साधन भी नहीं थे। वह बाबा के साथ चला। उसकी स्त्री बहुत रोयी। उसके बच्चे रोये पर वह न माना, चल दिया क्योंकि उसका मन तो वैराग्य का अर्थ सुस्वाद भोजन लगा रहा था। किन्तु प्रारब्ध वश रास्ते में दो दिन से मात्र दो मुट्ठी चबेना मिला। वह बहुत भूख से घबड़ाया। शारीरिक परिश्रम करने वाले व्यक्ति को भूख भी अधिक लगती है। महात्मा ने धैर्य धारण करने को कहा—बेटा! वैराग्य इसी तरह होता है। कभी घी घना। कभी मुट्ठी भर चना। कभी वह भी मना और वह मजदूर बेचारा क्या करता। उसका वैराग्य रास्ते में ही हवा हो गया। एक व्यक्ति उसके गाँव का मिला। उसने कहलवा दिया कि जाओ। मेरी पत्नी से कहना कि घबड़ायेगी नहीं। मैं आ रहा हूँ—वैराग्य में बड़ी खटपट है। और वह दो दिन में बाबा से आँख चुराकर घर भाग आया। वैराग्य भूख से होगा तो भोजन पाकर वह शान्त हो जायेगा तथा

मन विषयों में लग जाएगा। यदि वैराग्य मन की कुण्ठित वासना का परिणाम होगा तो समय पाकर वह वासना-तृप्ति का सफल या निष्फल प्रयास अवश्य करेगा। घर में पुत्र नहीं हुआ और ऊब गया तो तपस्या का फल वैराग्य का फल पुत्र-प्राप्ति ही होगी। एक व्यक्ति अपनी पत्नी का पोषण न कर सका तो पत्नी ने फटकरा— तुम्हारे जैसे पति से अच्छा था मैं शादी ही न करती विधवा होती तो सुख से रहती कम से कम तुम्हारी आशा तो न होती। अब मैं क्या करूँ। यह सुन कर उस व्यक्ति को ग्लानि हुई और उसने वैराग्य ले लिया। किन्तु क्या करे अब न तो घर जा सकता है और न तप में ही मन लगता है, काम की उद्दाम वासना लहर मारती है तो क्या करें। पूरा जीवन दुखमय हो गया और वह वासना-तृप्ति के लिए ही हमेशा सोचने लगा पूरा वैराग्य ही मानों नर्क हो गया। द्विविधा में दोनों गये, माया मिली न राम।

'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् (जिस दिन विराग हो जाय, उसी दिन सन्यास ले ले) यह कथन है किन्तु वैराग्य को विवेक की कसौटी पर कसना पड़ेगा। जैसे ही वैराग्य हो वैसे ही सन्यास ले ले, यह बात जैसे भावुकता में कहीं गयी है। क्योंकि यदि वैराग्य होने पर तुरन्त सन्यास ले लेगा तो क्या सन्यासअवस्था में यदि कभी राग से अन्वित हो तो गृहस्थ बन जायेगा। तव तो क्षणे विरक्तिः ! क्षणे आसक्तिः ! का एक अमर्यादित अविश्वसनीय नाटक चल पड़ेगा। जैसे आज कुछ लोग कहते हैं— कि क्या हुआ। सन्यास लेना है तो दस दिन का भी ले सकते हैं। फिर गृहस्थ हो जायँ। तव तो वेद की, ऋषियों की सन्यास की पूरी व्यवस्था ही विच्छिन्न हो जायगी। अतः विरजेत् का तात्पर्य दृढ़तर वैराग्य, ज्ञान पूर्वक वैराग्य या विरज होकर वैराग्य, किया जा सकता है। रजोगुण की प्रतिक्रिया स्वरूप जो वैराग्य होगा, वह जरूर लोभ और राग से वाद में चित्त को रंग देगा। ठेस लगा हुआ विराग किसी न किसी को अवश्य ठेस मारेगा।

रागों ने चित्त रंगा है लेकिन प्रतिक्रिया के लिए नहीं। मन में वैराग्य हुआ है लेकिन राग की ठोकर खाकर नहीं। इन्द्रियलोलुपता का गणित हल करने के लिए नहीं। जीवन की उद्दाम-वासना कुण्ठित नहीं किन्तु संयमपूर्वक तृप्त हुई है। स्त्री घृणा का पात्र नहीं, वह अब मातृ-शक्ति बन गयी है। वह शृंगारमयी न होकर वात्सल्यमयी हो गयी है। काम की नदी शान्त सरोवर बन गयी है। अब उसमें प्रेम का कमल खिलता है। आनंद के भ्रमर गुञ्जारते हैं। सर्वत्र विराग ही विराग है, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। जीवन क्रम आह्लादमय है।

छान्दोग्यश्रुति में ऋषि ने एक विलक्षण सत्य का उदघाटन किया है। भारतीय महर्षियों की लोकोपकारिणी वाणी सम्पूर्ण जीवन का स्वस्थ दस्तावेज है। ऋषि कहते हैं—"योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गाराः अभिनन्दा विस्फुलिंगाः।" अर्थात् हे गौतम ! नारी का शरीर ही अग्नि है। उपस्थ ही समिधा है, लोम-राजि ही धूम है, योनि ही अर्चि है, मैथुन-क्रिया ही अंगार है, रति का आनन्द ही चिनगारियाँ है। तथा पुनः कहते है—"तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेः गर्भः सम्भवति। (पंचम प्रपाठक) (अष्टम खण्ड) उसी अग्नि में देवता रतेस् (वीर्य) का हवन करते हैं और उस आहुति से गर्भ रूप फल प्राप्त होता है। यह काम वासना का एक महान् उपयोग है एवं जीवन को ऊर्ध्वमुख करने का एक महान साधन है। यौवन की नदी बलखाती बह रही है। इसका उपयोग यदि करना है तो उसे तट के संयम में रहना होगा। और किसी अगाध गहराई में एकत्र होना होगा। वह पूरी नदी अपनी समस्त चंचल चेतना के साथ उस गह्वर में समा जायेगी तभी आनन्द का बुलबुला उठेगा, और हम उस नदी के जल से विद्युत बना सकेंगे। नारी उसी अतल गहराई की पूर्णता है तथा पत्नी उस अतल प्रवाह का निमन्त्रण। संभोग में ऋतु-काल आदि का बन्धन

ही उद्यम नदी को बाँधने का मजबूत तट है। नदी तटहीन होकर यदि बहने लगे तो या तो वह बिखर जायगी, और धरती को डुबा देगी या स्वयं ही महत्त्वहीन होकर उपयोग की भूमि में नहीं उतर पायेगी। उसका उद्दाम प्रवाह, विद्युत का निर्माण नहीं कर सकता। विखरी नदी सिंचाई जरूर करती है किन्तु उर्वरा धरती को भी रेतीली बना देगी। वासना स्वच्छन्द होकर पूरी जिन्दगी को रेतीला बना देगी। वह अध्यात्म की ऊर्जा भी बना पायेगी। काम की उद्दाम वासना जीवन की अपरिमित शक्ति है, शायद पूरा सृष्टि-चक्र इस एक ही धुरी पर चल रहा है। संयमपूर्वक संभोग ही वासना को ऊर्ध्वमुखी करता है और ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। अतः वैराग्य की पृष्ठ-भूमि में वासना की समझ व भोगों से उपरमता जरूरी है। चित्त वासना के घायल संस्कारों से आच्छादित न हो तभी वहाँ सच्चा व स्थायी वैराग्य उत्पन्न हो सकेगा। नहीं तो जंगल में भी मंगलों का महल होगा। पूरी जिन्दगी रागान्विता बन जायगी। जंगल का एकान्त साधक को सुख देता है किन्तु रागी को खटकता है। जब मन में वैराग्य अधिक था तो जगल अधिक थे राग आया तो जंगल नेस्तनाबूद हो गये। महल बन गये। ओरिजनलिटी खतम हो गयी। परिवार बस गया सन्यास की लीथियों में और साधना बनावट मात्र रह गयी। अतः सबसे पहले जरूरी है साधना को वास्तविकता से जोड़ा जाय। सत्यता की कसौटी ही हमारी साधना का मूल्य हो और हम आगे बढ़ें जीवन मूल्यों की ओर। आनन्द की ओर।

मन के साथ चलो प्रपत्ति के द्वार

चित्त की सम्पत्ति संस्कार है और संस्कार ही मन की क्रियात्मक शक्ति के प्रेरक हैं। अब मन के शोधन का एक मात्र उपाय पूरे मन के साथ प्रपत्ति के द्वार पर आ जाना है। जहाँ कोई मानसिकता दबी न हो, जहाँ कुछ संकुचित न हो। सब कुछ स्वीकारात्मक हो, निषेधात्मक न हो। उस परम प्रकाश के समक्ष सब कुछ खोल देना। पूरा घर, पूरी दूकान पूरी जिम्मेदारियाँ, पूरी कसौटियाँ. उसके हवाले कर देना। अब अपना कुछ नहीं रहा। अधिकारों की मोटी तह लिए हाजिर हो जाना उस तेज के समक्ष। उसकी कृपा उस अनादि अंधकार के पर्वत को विदीर्ण कर देगी। जब हमारे अन्तर्‌रस में विकारों का संस्कार जगने लगे, तो समझना कि अब हम अपने असली स्वरूप की यात्रा में हैं। भक्ति की भाषा में यही दैन्य है तथा कार्पण्य है। यह कार्पण्य, दैन्य ही मन के रोगों का सही इलाज है।

अब प्रश्न यह है कि मन पर रखे हुए विकारों का कूड़ा कहाँ फेंके। वासना का, क्रोध का घृणा का उद्वेग का, लोभ और मोह का कचरा कहाँ डालें? ध्यान देना! कहीं वह किसी संसार के विश्वास पर मत फेंक देना, नहीं तो तुम्हें उलटे उसको अधिक कूड़े का भार ढोना पड़ेगा। हो सकता है वह दूसरा व्यक्ति तुम्हारे पूरे व्यक्तित्व को ही विकारों से रँग दे। तुम पूरे गन्दे हो जाओगे! विना समझे मन का कचरा मत फेकना कहीं। एक वक्तानन्द जी मन के शोधन का उपाय बता रहे थे—कि तुमने जो संसार का कचरा अपने सिर पर रख लिया है, उसे फेंक दो और मुक्त हो जाओ चिन्ताओं से। उनका लेक्चर एक जमादार सुन वहा था, जो सिर पर कूड़े की टोकरी लिए खड़ा था और उसने आव देखा न ताव, फेंक दी पूरी टोकरी एक व्यक्ति के सिर पर। पूरी सभा भभक कर उठ खड़ी हुई और उस व्यक्ति को पकड़ कर लोगों ने पिटाई भी की। बाद में पुलिस भी आयी। अपराध पूछा गया तो किसी ने जमादार को दोषी बताया तो किसी ने पीटने वाले व्यक्तियों को दोषी

बताया। एक सन्त वहीं घूम रहे थे उन्होंने जाकर समाधान किया कि दोष न तो भंगी का है, और न ही इन व्यक्तियों का। लोगों ने आश्चर्य से देखा तो सन्त ने कहा—दोष तो उस मूर्ख वक्तानन्द का है, जो अनर्गल भाषण देकर दुनिया को मूर्ख बना रहा है। कूड़ा फेंकने का उपदेश तो दे डाला किन्तु कूड़ादान का पता ही नहीं बताया। कचरा तो हर आदमी के पास है और मन भारी है गया है ढोते-ढोते, मगर कचरा की पेटी का पता नहीं। इस विज्ञान के युग ने घरों को सिस्टमेटिक, अनुशासित तो किया। मकानों दुकानों को करीने से तो सजाया, संसार से घर में किचेन, बाथरूम, शो-रूम, शयन-कक्ष सभी अलग-अलग बनाया उसने, शौचालय भी समझ बूझ कर बनाया किन्तु मन का कचरा कहाँ फेंके। उसे अब तक किसी स्थान का पता न चल सका। उसे विकारों के रखने की जगह मिल पायी ? आदमी कहाँ फेंके मन का कूड़ा ? इसकी निश्चित जगह होनी चाहिए। आदमी बिना जाने-समझे, जाने कहाँ-कहाँ फेक रहा है मन के विकार।

एक पार्क में बड़े सवेरे आठ-दश लोग जोर-जोर से चिल्ला रहे थे। अस्त व्यस्त बनावटी ध्वनियाँ कर रहे थे। कोई स्यार की तरह हुआँ हुआँ बोलता तो कोई कुत्ते की तरह, कोई पक्षी की तरह बिल्कुल अस्त-व्यस्त। प्राकृतिक ब्रह्म-बेला की समांगता नष्टकर रहे थे वे लोग। मैंने लोगों से पूछा ये कौन है ? लोगों ने बताया ये रजनीश के अनुयायी हैं। ध्यान कर रहे हैं। मैं विचारने लगा। यह ध्यान तो बड़ा खतरनाक है। मानवता को विकृत करने वाला है यह। प्रकृति की शान्त लहरों में व्यतिक्रम करने वाला है यह। और इतना ही नहीं। ध्वनि-प्रदूषक भी है। पूरा माहौल विकृत ध्वनियों से भर दिया गया है। आखिर यह चिल्लाहट ध्यान का अंग है क्या ? रजनीश जैन परिवार का व्यक्ति था। जैनियों में मौन एक सबसे बड़ा व्रत माना जाता है। जैनी लोग मुँह पर पट्टी भी शायद इसीलिए बांधे रहते है कि वातावरण दूषित न हो। प्रवृत्ति शान्त

बनी रहे। किन्तु शायद वह दबी हुई प्रतिक्रिया रजनीश के रूप में बाहर आयी और उसने सुबह-सुबह चिल्लाने का व्रत ले लिया। तथा इसे मन की शल्यचिकित्सा कहा। किन्तु वह इसके घातक परिणामों से अनभिज्ञ था। रोज-रोज चिल्लाने से उसका भी संस्कार मन पर पड़ता है, और शान्त क्षणों में मन को चिल्लाने के लिए रोज ही बाध्य करता है। बिना चिल्लाये वह व्यक्ति अशान्त ही रहेगा। चित्त पर पड़ने वाली बाह्य सम्वेदनाओं की तह को उखाड़ा नहीं जा सकता। उखाड़ने पर घाव हो जाता है तथा वह कभी ठीक भी नहीं होता। जो कहते है कि पिछले जन्मों में पशुओं, पछियों के संस्कार है वे उन्हीं की बोलियों में उत्प्रेरित होकर निकलते हैं। अतः मन साफ हो जाता है, यह भ्रम है। यदि स्यार की बोली बोलने पर मन स्यार की वृत्तियों से मुक्त हो जाय तो जो शृगाल रोज हुआँ-हुआँ करते है उनको मुक्ति मिल जानी चाहिए। वे भी समाधि में चले जायें। यह सभी मात्र भड़काऊ बातें हैं। हिप्नोटाइज करने की विधि है। महर्षि पतञ्जलि कहते है—कि मन पर जमी हुई विकार की पर्त्तों को उखाड़ो मत बल्कि उन्हें लीन कर दो या जला दो। इसके लिए तीन चीजें जरुरी है। आसन-सिद्धि, प्रणायाम तथा निःसंकल्पता। हुँआ हुँआ, चिल्लाते हुए बन्दर-कूद नाटक, ध्यान की कक्षा नहीं है। वह मात्र शरीर की थकावट है, शरीर की विश्रान्ति है। थोड़ी देर मन का शिथिली करण है मन का क्षय नहीं। धातु-क्षयाद् वाक्क्षयो बलीयः।" अधिक चिल्लाने से आयु क्षीण होती है। शब्द की ऊर्जा संरचनात्मक नहीं हो पाती। सुबह का कूदना, नाचना दण्ड-बैठक, व्यायाम, आसन, ये सभी प्राण की संश्लेषणात्मक क्रियायें हैं विरेचनात्मक नहीं।

योग की कियायें मन का बहुत लाड़ करती हुई, शोधन करती हैं क्योंकि वह प्रकृति का अनुपम वरदान हैं। किन्तु भक्ति-भावना मन का एक विलक्षण ही इलाज है जो मन का कचरा फेकने की जगह क्या है। कौन सा स्थल है वह जहाँ फेंककर मन, व्यक्तित्व के स्वरूप

को उजागर करता है ? आपने भक्त-कवियों की रचनायें पढ़ी होगीं। तुलसी, सूर, कबीर, नानक, अन्य परमात्मा को प्राप्त होने वाले सन्तों की रचनायें। उनका दैन्य, उनका कार्पण्य। तुलसीदास जी कहते हैं— मैं तो बड़ा नीच हूँ बड़ा पापी हूँ। मेरे पापों के जंगल इतने बड़े हैं कि पुण्य के नाखून से कल्प कल्पान्तर में भी नहीं कट सकते। कबीर दास जी कहते हैं। मैं तो राम का कुत्ता हूँ। पाप की गठरी लादे हूँ। रैदास कहते हैं—पति राखो रैदास पतित की दशरथराजदुलारे। आखिर यह सब क्या है ? यह दैन्य कुछ नहीं, मात्र मन के कचरे को एक निश्चित जगह फेंक दिया गया है। वह जगह क्या है ? क्या प्रकृति ? क्या राम ? क्या जगत् ? नहीं, वह कूड़ागार तो मात्र व्यक्ति का अहंकार है। 'मैं' है वह। उसी में मन का कचरा डाल दिया गया है। और बहुत अहंवृत्ति ही, व्यक्त समग्र विकारों की जड़ है। जिस साधक ने मन के समग्र विकार अहंकार की झोली में डाल दिये वही भक्त हो गया। वही दीन हो गया। उसी के जीवन में स्वीकार जगने लगा। वही सत्य के करीब पहुँचा हुआ लगने लगा। जो कहता है—हे प्रभू मैं पापी हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं नख-शिख विकारों से भरा हूँ। जीवन का महान सत्य बोलता है, क्योंकि 'मैं' है ही ऐसा और जो कहता है, मैं महान् हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, वह दुनियाँ का सबसे बढ़ा झूठा आदमी है। उस पर विश्वास मत करना। संसार को दमन को उसी ने जन्म दिया है। 'मैं' कहीं ब्रह्म हो सकता है ? मैं केवल अहंकार है। विकारों का वाक्य 'अहंब्रह्मास्मि' एक स्थिति है कथन नहीं। वह निर्विवाद है, विवाद का विषय नहीं। वह 'मैं' नहीं। अहंकार अगर दिल में छिपा है तो मनुष्य कभी भी सिद्ध-संकल्प, विकार-हीन नहीं हो सकता। अहं जब वश में होकर प्रकट होता है तो मात्र दैन्य के प्रकाश में ही अभिव्यक्त होता है, अन्यत्र नहीं और जब प्रकट होता है तो परमात्मा का पूर्ण प्रकाश उसे निर्मूल करके स्वयं समाहित कर लेता है। मन का पूर्ण इलाज हो जाता है वहाँ। और मन की, व्यक्ति की पूर्ण कृतकृत्यता भी यही है।

अनबूड़े बूड़े तिरे

एक संगीतज्ञ ने एक ही राग को साठ वर्षों तक गाया। वह जब भी गाता, उसकी मस्ती बढ़ जाती, सुनने वाला भी नये-नये रस की अनुभूति करता। उससे पूछा गया कि एक ही राग को तुमने जीवन भर क्यों गाया? और वह भी, एक ही ढंग से, एक ही सितार से, एक ही मीटर में एक ही स्वर-ताल एवं एक ही क्रम में। आखिर सब कुछ एक ही क्रम में क्यों? गायक ने कहा—एक ही राम को बार-बार एक ही तरह से गाने पर मैं आह्लाद से भर जाता हूँ। उस एकता से अपनत्व हो गया है। अब वे ताल-स्वर-लय मात्र कण्ठ तालु के अभिघात नहीं रहे, उनमें जैसे अपना निजी राग व्यक्त होता है। वस्तुतः यह निजी राग हर स्वर को निजत्व से रंग देता है। यही अपनत्व से रंगना ही ताल मात्राओं से ऊपर का रसबोध है। उस रस के लिए अब किसी ताल-मात्रा की नवीनता की अपेक्षा नहीं है। यही संगीत का रस बोध है। जिस रस की समाङ्गता में पूरा जीवन रंग जाय, वही वस्तुतः मुख्यधारा में समाहित हुआ। स्वर-ताल-मात्रा की बार-बार समान आवृत्ति का लगन के साथ अभ्यास, यह निजी राग को व्यक्त करने का प्रयास मात्र होता है। एक गायक जिसकी गान-माधुरी पर दुनिया झूम-झूम जाती थी, बड़े ही प्यार से लोग जिसे गानकला-गन्धर्व कहते थे, उसने अन्त में कहा, कि अभी तक मैने गाने का प्रयास किया है। कभी-कभी उस प्रयास में रागानन्द की एक बूँद सी झर जाती थी और मनमयूर थिरक उठता था। मैं कृतकृत्य हो जाता था। उस आवृत्ति में कभी-कभी मेरा अपना श्याम अपनी मुरली छेड़ देता था और पूरा आत्मा जैसे वृन्दावन हो जाता था। एक ही राग की उसी रूप में आवृत्ति ही शाश्वत-रस-बोध का साधन है। राग-सिद्धि के लिए उस एक ही राग को सहस्त्रों

बार दुहराया जाता है । अनुवृत्ति का आनन्द ही रसबोध पैदा करता है। एकरसता ही आनन्द की सर्जक है। यदि एक ही गीत को विभिन्न मात्राओं में गाने का प्रयास किया जाय तो राग की बहुज्ञता का ज्ञान तो होता है किन्तु राग की गहराई का ज्ञान नहीं होता।

समुद्र के विभिन्न घाटों की यात्रा, तैरना हो सकती है किन्तु गहराई नहीं। गहराई का ज्ञान तो किसी एक घाट पर डुबकी लगाने से ही हो सकता है। बाली को समुद्र के कितने घाटों का ज्ञान था। वह प्रतिदिन समुद्र के प्रत्येक घाट पर संध्या करता था। एक बार उसकी पत्नी तारा ने उससे पूछा—समुद्र की गहराई क्या है? बालि ने तारा को सझाया कि समुद्र के अमुक घाट पर इतने बड़े, इतनी जहाजें हैं तथा समुद्र की इतनी चौड़ाई है। तारा ने गहराई पूछी मगर उसने कहा—समुद्र चौड़ा है। तारा ने डूबने की बात की, बालि ने कहा—मैं समुद्र तैर सकता हूँ। तारा ने कहा—भगवान श्रीराम की गहराई पातल से ज्यादा है, बालि ने कहा—जानता हूँ उनकी चौड़ाई उनका विस्तार! अयोध्या से चित्रकूट तक है, चित्रकूट से किष्किन्धा तक है। तारा बोली—राम भक्तवत्सल हैं, बालि ने कहा—मैं जानता हूँ, वे समदर्शी हैं। एक गहराई का पथिक है तो दूसरा चौड़ाई का अनुभवी। एक अन्तर्मुखता का संकेतक है तो दूसरा बाह्य सम्वेदनाओं की सोचों में जीनेवाला। जिन्दगी द्वैविध्य-भरी है।

राग की गहराई सिर्फ डूबना नहीं। डूबना तो मात्र गहराई को मान लेना है। जानना नहीं, मान तो वह भी लेता है जो किनारे पर ही डूब जाता है। राग में कहाँ डूबें कि गहराई तक जायें। डूबना सिर्फ अपने अहं का विलोप है। नहीं की गहराई का ज्ञान, वहीं एक जहाज समुद्र के तट पर ही, थोड़ी दूर चलकर डूब गया। लोगों ने आह भरते हुए कहा—जब किनारे पर ही इतनी गहराई है, तो बीच में कितनी होगी। थोड़ी देर में जहाज का चालक किसी तरह से ऊपर उतराया। बेहोश था वह! होश में आने पर पूछा गया उससे 'कहो समुद्र कितना गहरा है? उसने कहा—मुझे तो

कुछ पता नहीं, केवल इतना पता था कि मैं असहाय हो गया हूँ और नीचे चला जा रहा हूँ। गहराई का पता तो तब लगेगा जब हम होश में डूबेंगे। होश में तब डूबेंगे जब भय न होगा। भय तब नहीं होगा जब अपना बल सुरक्षित होगा। इसीलिए कहते हैं— 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:, अतः गहराई के लिए पहले तैर कर बीच में जायें वहाँ होश में रहकर डूबें, और अनवरत नीचे चलते जायें, तब तक जब तक तल न आ जाय। फिर तल पर बैठ गहराई का हिसाब लगावें। तल पर बैठे वगैर तल तक की यात्रा का ज्ञान नहीं होगा। गहराई एक यात्रा है तो तल एक मञ्जिल। मञ्जिल पर पहुँच कर ही यात्रा का विस्तार मिल जाता है। किन्तु तल पर बैठ गहराई का हिसाब अपने को तो लग जायेगा, दूसरों को बताने के लिए उसे पुनः सरफेस पर आना पड़ेगा। सरफेस से बाटम और बाटम से सरफेस की यात्रा करने वाला व्यक्ति ही गहराई के बारे में बता सकता है। एक नाविक ने कई बार सरफेस से तल व तल से सरफेस की यात्रा की। मगर हर वार वह सरफेस पर आता तो तल की गहराई भूल जाता। क्योंकि समुद्री जहाजों में बैठे हुए उसके मित्र बड़ी वेसब्री से उसकी प्रतीक्षा करते और सरफेस पर आते ही, उसे शराब व सुन्दरी की भेंट दिया करते। वह गहराई, का ज्ञान भूलकर उसी में खो जाता। फिर डूबता, फिर आता, और नशे में धुत हो जाता। गहराई में उतरना तो आसान है, मगर सरफेस पर आकर गहरेपन का ज्ञान बचा पाना अति ही कठिन है। ऊपरी तल पर गहराई का ज्ञान तभी सुरक्षित रहेगा, जब सरफेस पर भी कुछ गहराई की चर्चा हो, डूबने की बातें, डूबने में खतरनाक जल-जन्तुओं से वचने की बातें तल पर बैठ विश्राम की बाते हों फिर वहाँ ऊपर आने की बातें, तथा ऊपर आकर भी मित्रों द्वारा भेंट की गयी, सराब-सुन्दरी में लिप्त न होने की बातें हो तभी गहराई का ज्ञान लोकहितार्थ बाँटा जा सकता है। भगवान शंकर का उमा से जब विवाह हुआ तो दोनों के सम्भोग का बड़ा विशद वर्णन

भारतीय वाङ्मय में किया गया। विश्व के साहित्य में, शिव-पार्वती के जैसा, यौन-कलाप नहीं मिलता जिससे विवश होकर व्यास जी को भी लिंगपुराणम् की रचना करनी पड़ी।

आज की वैज्ञानिक दुनिया, भले ही यौन की खुली गतिविधियों का समर्थक हो, मगर स्वच्छन्द हिप्पीवाद भी अर्द्धनारीश्वर की यात्रा नहीं कर सकता। शिव-पार्वती दोनों एक हो गये। यही मानों यौन का आध्यात्मिक रूप है। सेक्स बाहरी शरीर को एक तो करता है किन्तु परस्पर के जीन्स नहीं बदल जाते, आत्मा विभिन्न ही रहती है परन्तु शिव उमा तथा उमा शिव बन जाते हैं। यह सेक्स का आध्यात्मिक प्रयोग मात्र भारतवर्ष के ही चिन्तन की देन है। भोग विलास की विदग्धता के बाद शिव समाधिस्थ हो जाते हैं, योगीश्वर जो ठहरे। विश्व-आत्मा की एकता का ज्ञान जिसको हो, उसे सेक्स भी आध्यात्मिक एकता का ही साधन है। कुमार कार्तिकेय के जन्म के बाद भगवान शंकर ने बहुत दिन की समाधि लगा ली, उमा प्रतीक्षारत रहीं। समाधि के बाद शिवजी जागे तो भगवत्कथा कहने लगे। पार्वती ने पुलकित हो अपने प्रियतम को देखा और प्रश्न कर बैठीं, उन्होंने कहा—स्वामी ! जब आप यौनक्रीडारत थे, उसके बाद तो समाधि में चले गये लेकिन अब समाधि से जागे तो भगवत्कथा क्यों कहने लगे ? क्या भोग के बाद समाधि में बैठना जरुरी है, और समाधि-खुलने के बाद श्रीराम कथा की जरुरत है क्या ? शिवजी ने मुस्कराकर कहा—प्रिये ! भोगों में था तो राम में तैर रहा था, कभी-कभी गहराई का स्वप्न देखता था। लेकिन डूबा नहीं था, तैरते-तैरते बीच धारा में गया, मगर थक गया। तैरने की शक्ति क्षीण हुई तो दृढ़विश्वासपूर्वक डूब गया जिसे तुम समाधि कह रही हो। डूबकर मैं तल पर विश्राम कर रहा था। अब सरफेस पर आ गया हूँ जहाँ तुम बैठी हो। और यहाँ बैठकर भी गहराई की चर्चा कर रहा हूँ। यही राम कथा है, गहराई की चर्चा करने से गहराई का ज्ञान बना रहेगा। तो मुझे फिर तल तक डूबने की

आवश्यकता नहीं होगी। रामकथा में यदि चित्त लग जाय तो फिर समाधि की आवश्यकता नहीं पड़ती लेकिन यदि गहराई का ज्ञान सरफेस की भोग सामग्री में विस्मृत हो जाय तो थककर डूबने के सिवा और चारा भी क्या है, यही समाधि है।

राग में कहाँ डूबें कितना डूबे. हिसाब क्या है ? डूबने का हिसाब लगाया तो डूबा ही क्या ? लय में, स्वर में डूबे या सम में, या वहाँ डूबे जहाँ ये रस भी डूब जाते हैं। लेकिन क्या पता ? जहाँ डूबा हूँ वहीं अन्तिम डूबना है। अन्तिम गोता है। वहाँ डूबने की सीमा क्या है ? ऐसा कौन सा तल है जिसके बाद फिर डूबना नहीं है कौन सी वह डूब है जिसमें पहुंचकर फिर वापस आना है और लय में सँवरना है। स्वर में झूमना है. सम में लीन होना है। सीमांकन हुआ तो असीमता खण्डित हुई। हिसाब लगाया तो अनन्तता गयी। अनन्तता तो तब सुरक्षित रहेगी जब वह सापेक्ष न हो। नापने वाला कहीं सान्त न हो। और अनन्त भी वहीं होगा जो डूबने में बेहोश न हो। डूबने में भी जाग्रत, तल में बैठने में भी जाग्रत वापस आने में भी जाग्रत। तभी वह सरफेश पर गहराई की कथा कह पायेगा।

एक बार महर्षि शुकदेव एक वृक्ष के नीचे शान्त मुद्रा में बैठे हुए थे। उनका मुखारविन्द प्रसन्नता से खिला हुआ था। उनके पास परम सुन्दरी रम्भा आयी। रम्भा ने कहा मुनिवर ! आपका मुखकमल प्रसन्नता से खिला हुआ क्यों है ? शुक ने कहा—इस समय सतह पर तल की गहराई बैठ गयी है। रम्भा ने पूछा—यह गहराई क्या है ? शुक ने कहा—जीवन एक गहरा समुद्र है, इसकी गहराई की थाह जिसे मिल जाय वही परमाह्लादमय हो जाता है। डूबना ही परमाह्लाद का साधन है। रम्भा ने कहा—मुनिवर ! सभी स्त्री-पुरुष के शरीरों में जो सौन्दर्य है, भोग की गहराई है, वहाँ भी तो हम डूब जाते हैं। उस डूबने में और आपके डूबने में क्या फर्क है ? मैं जिस समय सुन्दर पुरुष के शरीर का आलिंगन करती हूँ उस समय मेरा अस्तित्व

सर्वथा जैसे डूब जाता है। वह आनन्द, वह क्षण कितना मधुर है। क्या वह आपको आन्दोलित नहीं करता ? उस विषयह्लद में डूबने में और आपके डूबने में क्या फर्क है ? शुक ने सहजभाव से उत्तर दिया तुम्हारा डूबना पुरुषसापेक्ष है, लेकिन मेरी डूब निरपेक्ष है। रम्भा ने कहा—डूबने में सापेक्षिकता से क्या हानि है ? आखिर डूबना तो रहा बराबर, फिर क्या अन्तर ? शुक ने कहा—'लेकिन तुम डूबती हो तो होश भुलाकर डूबती हो, मैं डूबता हूँ तो बिल्कुल जाग्रत होश में डूबता हूँ। और सच है कि विषयभोग के बाद निद्रा घेर लेती है किन्तु समाधिरूप 'डूब' में सतत जागृति है।

स्त्री पुरुष में डूबना चाहती है, पुरुष स्त्री में डूबना चाहता है, किन्तु दोनों मात्र तैरते हैं, और डूबने का ख्वाब मात्र देखते हैं। कहीं कुछ पल को डूब का एहसास हुआ तो होश गुम हो गयी, यदि कहीं होश में आये तो डूब खतम हो गयी। सम्भोग में डूबने जैसा लगता है किन्तु वस्तुतः वह भ्रम है। जैसे ही होश आया तो दोनों पृथक् हो गये। अगर वेहोशी ही समाधि है, तो होश में आने पर प्रपञ्च अवश्य आयेगा। यदि नशा ही समाधि का कारण हो तो नशा काफूर होने पर बड़ी मुश्किल होगी। नशा प्रपञ्च को थोड़ी देर भुलवाता है किन्तु प्रपञ्च का विलोप तो जागृति का नशा बनने पर होता है। एक महात्मा ने सुन रखा था, कि गाजा पीने पर अच्छी लगन लगती है। उसने गाँजा पीना शुरु कर दिया। भक्तों की अच्छी खासी मंडली जुटने लगी। गाँजे का धुँआ जब आकाश में छूटता तो मानो वैराग्य व ज्ञान का द्वार खुल जाता। लेकिन जब नशा काफूर होता तो नमक तेल लकड़ी में मशगूल हो जाते। विषय की तन्मयता में लगने वाली समाधि मात्र नशा है जो थोड़ी खटाई खायी कि दूर हो गयी। महज प्रपञ्च गया। योगी की समाधि जाग्रत-नशा है। क्योंकि वह होश में डूबता है और गहराई तक चला जाता है। अनवरत उसे नाक बन्द होने पर सांस-घुटने का भय नहीं। क्योंकि डूबते समय भी उसने नाक नहीं बन्द की थी। डूबने में अगर नाक बन्द की तो हो

सकता है कि तल तक पहुँचने के पहले ही सांस घुट जाय और वह अधूरे मार्ग से ही वापस आ जाय। गहराई के शाश्वत सत्य की खोज तो वगैर नाक बन्द किये ही होती है। वगैर नाककान बन्द किये गहराई तक डूबना ही जाग्रत-समाधि है।

एक योगी था। वह पद्मासन लगाकर बैठा था, उसने पवन को अनहद गगन में चढ़ा लिया था और आनन्द मग्न हो रहा था। कबीर ने उसे देख लिया और हँसते हुए कहा—बाबा! यह समाधि कब तक? यह लबबन्द, चश्मबन्द कब तक? कब तक यह पवन-गगन का मेल? पेट की आग जब जलायेगी तब क्या होगा? रोटी के लिए तो गगन से नीचे उतरना ही पड़ेगा। जब जमीन पर ही आना है तो थोड़ी देर के लिए गगन में चलने की कृतकृत्यता क्यों? योगी की समाधि खुली तो उसने कबीर से पूछा—महाराज, समाधि का प्रारूप क्या होगा? कबीर ने कहा—साधो सहज समाधि भली। सहज समाधि बिल्कुल जमीन का प्रयोग है। गगन-पवन जहाँ चौबीसों घण्टे गरजते रहेंगे। अनहद-नाद स्वयं नौकर होगा। जिन्दगी आनन्दमयी होगी। वह है बिल्कुल सीधा रास्ता जहाँ विना नाक-कान बन्द किये ही प्राणायाम हो जाता है। बिना जपे ही जप हो जाजा है बिना छूटे ही मोक्ष हो जाता है और जहाँ बगैर डूबे ही गहराई मिल जाती है। आखिर गहराई को गहरेपन की तलाश कहाँ होती है। समुद्र का तल किस तल को खोजता है। यह सरलता ही जीवन का मूल विन्दु है। श्वांस-श्वांस में प्रियतम समाया हुआ है। कण-कण में आनन्द झरता है। जहाँ माला भी नहीं, माल भी नहीं, फिर भी व्यक्ति मालामाल हो जाता है।

वस्तुतः सरल होने के लिए किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। सरलता तो अपना स्वरूप ही है वह अपने घर की वस्तु है बिलकुल अपने आँगन में खिले गुलदस्ते जैसा। बनावटी पन तो जटिलता में होता है। वहीं परायापन भी है। सरल आदमी बिलकुल

अपने जैसा दीखता है। उसमें परायेपन की गन्ध तो कुछ जटिलपन व बनावट में ही आती है। किसी सरल सीधे व्यक्ति को देखकर अक्सर बड़े खूँखार व्यक्ति भी कह देते हैं कि यह आदमी तो मुझे प्राणों से भी प्यारा है अर्थात् मेरी आत्माजैसा है। यह परम सत्य बात है। गोस्वामी जी कहते हैं कि यह सरलता ही अपना स्वरूप है। यही प्रभु को अत्यन्त प्रिय है। सहज समाधि के लिए सरलता का होना अत्यन्त आवश्यक है। यही प्रथम सोपान है।

किसी भी राग के चरमानन्द की यात्रा जटिलता से पूर्ण सरलता की यात्रा है। अभ्यास के क्षणों में स्वर, ताल, मात्रा, लय की जटिलता राग को दुरूह बना देती है। जैसे-जैसे वह अभ्यास सहज होता जाता है उसकी मिठास बढ़ती जाती है। एक सुन्दर गीत भी कोई कवि शक्ति, निपुणता, अभ्यास की जटिलता से ऊपर उठकर ही लिखता है। अभ्यासदशा में आदमी का व्यक्तित्व बड़ा जटिल हो जाता है किन्तु चरमावस्था में वही सरल व सहज हो जाता है। इसीलिए साधक जटिल होता है किन्तु सिद्ध सरल व सहज हो जाता है। वृन्दावन में एक सन्त रहते थे। बड़ा कठिन नियम था उनका। किसी का स्पर्श किया हुआ जल भी न पीना, जमीन पर सोना, उपवास, व्रत करना, धूप-शीत सहते हुए एक कौपीन में रह जाना, आदि तपस्या के बड़े जटिल नियमों का पालन करते थे वे। लगभग बीस वर्षों तक कठोर नियमों का पालन किया उन महात्मा ने। दूर-दूर से लोग उनके दर्शनार्थ आया करते थे। किन्तु बीस वर्षों के बाद लोगों ने उन्हें देखा और पहिचान नहीं पाये। उनका रूप-रंग बदल गया था जटाये उतर गयी थीं। नग्नता का स्थान वस्त्र ले चुका था। अब सबके साथ हिले मिले रहते थे। अब विरक्त का वेश भी नहीं था। सामान्य धोती कुर्ते में आ गये थे। कई लोग तो उन्हें देखकर फब्तियां कसते—'झर गया सारा वैराग्य, निकल गयी सारी तपस्या', लोग कहते लेकिन वे सन्त मुस्करा देते। उनका चेहरे पर तनिक भी रोष का भाव न होता। आँखें प्रेम में डूबी रहतीं। प्रकृति

सौम्य ही बनी रहती। अपनी मस्ती में रहते वे। एक दिन मैंने उनकी अवस्था के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा—'अब सारा माया-जाल खत्म हो चुका है और मैंने विचार किया—'यह जीवन की जटिलता ही माया है। जटिलता ही 'मैं' को जन्म देती है। पहले यह मनुष्य 'मैं' से रहित था और बड़ा सीधा था, उसके शरीर के किसी अंग में कुटिलता नहीं थी। वह कपट शून्य था। बिल्कुल सरल। गहराई जैसा। जटिलता तो लहरों में होती है। गहराई सरल होती है। गहरे सरोवर का जल कितना निर्मल होता है। पारदर्शी होता है वह। जहरीले जल में चेहरा नहीं दिखता।

मनु और शतरूपा नैमिषारण्य में कठोर तप कर रहे थे। उन्होंने अन्नजल-त्याग किया यहाँ तक कि दश हजार वर्ष तक वायुभक्षण भी त्याग दिया। साधना का जटिल व्रत का निर्वाह करने लगे। जीने के लिए समग्र संसार के साधनों का परित्याग कर निरपेक्ष हो गये थे। बिल्कुल अनीह। संयम का पालन कठोर होता है। मनु और शतरूपा मात्र अस्थिरूप ही रह गये थे। एक दिन उनके पुत्र राजा उत्तानपाद की इच्छा हुई कि अपने माता-पिता का दर्शन करें। वे अकेले ही रथ पर नैमिषारण्य गये। मुनियों के आश्रम गये वहाँ अपने माता-पिता के बारे में पूछा। मुनियों ने मनुशतरूपा की बड़ी प्रशंसा की; और कहा—उनका व्रत उनकी तपस्या सराहनीय है। उनकी तपस्या के प्रभाव से यह वन, तपोवन बन गया है। इस वन की पूर्वदिशा में चले जाओ। घनघोर वन है। सामने झिर-झिर करती सरिता है। वही पर वटवृक्ष के नीचे दम्पति तपस्यालीन हैं। लेकिन पास मत जाना। दूर से ही देखना। सुनकर राजा उत्तानपाद उस गम्भीर वन-प्रान्तर की ओर चले। वहाँ पहुँचकर गम्भीर वन में, वट के नीचे कंकालकाय अपने माता व पिता को पैर के अँगूठे पर खड़े देखा। देखते ही उत्तानपाद मूर्च्छित हो गये। जब सारथी ने उठाया तो होश में आने पर बोले—हाय! यह हमारे माता-पिता की स्थिति! और फिर वे मूर्च्छित हो गये। मूर्च्छित अवस्था में ही सारथी राजा को भवन

ले आया। जगने पर राजा बड़े दुखी हुए। रोज रात को कंकालकाय पिता का स्वप्न आता। बड़ा भय लगता उस दशा को देखकर। राजा उत्तानपाद बड़े कृशकाय हो गये। एक दिन नारद जी ने आकर समझाया। राजन! महान् उद्देश्य के लिए की गयी संयम की साधना, इसी तरह और भयंकर होती है। यह तुम्हारी ममता है जो कटी पतंग की तरह विकल हो रही है, क्योंकि वह मनुशतरूपा के सुन्दर शरीर से बँधी थी। अब वह शरीर रहा नहीं अतः ममता की डोर कट गयी है, किन्तु धैर्य रखो। शीघ्र ही प्राप्तव्य मिलने वाला है।" कहकर नारद चले गये। किन्तु राजा उत्तानपाद का मन शान्त नहीं हुआ। सत्ताइस हजार वर्ष की तपस्या के बाद आकाशवाणी हुई, वर मागो! उस अमृत वाणी को श्रवण कर मनु और शतरूपा को मानो प्राण आ गये और फिर पहले से अधिक स्वस्थ एवं सुन्दर हो गये। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट होकर सुवर्ण सा चमकने लगा। अपना अभीष्ट प्रभुदर्शन पाकर वे उसी वन में सुन्दर आश्रम में रहने लगे। एक दिन नारद ने फिर उत्तानपाद से कहा—राजन्! अपने माता-पिता का दर्शन अब तो कर आओ! राजा बोले—महात्मन्! क्षमा करिये! एक बार दर्शन किया था अभी तक मेरा मन व्यथित हो रहा है, आप दुबारा दर्शन कराकर क्या प्राण लेना चाहते हैं। यह तो अच्छा ही हुआ—मैं अपने पत्नी व पुत्रों के सहित नहीं गया वरना वे तो बेचारे मर ही जाते। नारद ने कहा! नहीं राजन्! अब की बार अपने परिवार सहित दर्शन करो! राजर्षि मनु अब हृष्ट-पुष्ट हो गये हैं। जैसे अपने राज्यकाल में थे वैसे ही सहज व यथावत् हो गये हैं। अब की बार उत्तानपाद अपने परिवार सहित गये और प्रेम-पुलक होकर अपने माता-पिता का आशीर्वाद लिया।

तो यह संयम की जटिलता क्यों? और उस जटिलता के बाद की स्थिति क्यों? तपस्या के बाद स्थिति पूर्ववत् क्यों हो गयी। राज्यकाल की सरलता व तपस्या के बाद की सरलता में क्या अन्तर है? उत्तानपाद ने नारद जी से पूछा, देवर्षि! पिताजी पहले

जैसे विल्कुल हो गये हैं किन्तु पहले जैसी मनःस्थिति नहीं है। पहले जैसी ममता नहीं रही परिवार से। नारद ने समझाया कि राजन् ! पहले मन बाहर सुन्दर व सरल था किन्तु भीतर बड़ा जटिल था। भीतर रजोगुण की जटिलता थी। लेकिन अब बाहर-भीतर दोनों स्थितियाँ सरल व सुन्दर हैं। तपस्या के काल में भीतर की सरलता के लिए बाहर की जटिलता परम स्वाभाविक है। जटिलता के बाद आयी सरलता सहज व स्वाभाविक होती है।

राम के लिए तड़पन थी तो जिन्दगी बिल्कुल उलझ गयी थी। ऊहापोह, संशय, तर्क, विपर्यय। जिन्दगी बिल्कुल प्रेत जैसी दिखती थी। दौड़ते-दौड़ते, अस्थिमात्र रह गया था। बड़ा डरावना लगता था खुद को 'मैं'। मगर जबसे मिलन हुआ, चित्त शान्त हो गया है। आलिंगन की मस्ती में हूँ। अब प्रियतम के लिए भटकना नहीं है। बड़ा सीधा व सरल हो गया है पूरा जीवन-क्रम। गोस्वामी तुलसीदास जी जीवन के अन्तिम समय में बहुत स्थूल हो गये थे। किसी भक्त ने पूछा—महाराज ! आप जब मधुकरी माँगते थे तो बिल्कुल कृशकाय थे मगर अब किस चक्की का आँटा खाने लगे गोस्वामी जी ने कहा—जब श्रीराम प्रभु मिले नहीं थे तो दुबला हो गया था क्योंकि तड़पन थी, किन्तु जब से राम को आलिंगन में बाँध लिया है तब से शरीर स्वस्थ हो गया है। अब पूर्ण विश्राम में हूँ। पूर्ण आराम तो राम की तल्लीनता में ही है चित्त की समग्र वृत्तियाँ एक जुट हो गयी हैं, ममता के सारे तार बटकर एक मोटी रस्सी बन गये हैं जिसमें सच्चिदानन्द को जकड़ कर बाँध लिया हूँ। ममता की मोटी रस्सी अग़र सच्चिदानन्द को बाँध ले तभी पूर्ण विश्राम मिलता है। पूर्ण को बाँधने के लिए पूर्ण रस्सी की जरूरत पड़ती है। विषयानन्द पूर्ण नहीं है। वह क्लालिटेटिवेली (गुणात्मक) ठीक तो है किन्तु क्वाष्टिटेविली (मात्रात्मक रूप में) बिल्कुल अयोग्य है। चित्त की समस्त वृत्तियाँ उसे बाँधने में प्रवृत्त ही नहीं होतीं। काम का धागा उसे बाँधता है तो लोभ, मोह, आसक्ति के धागे उसे बाँधने

में प्रवृत्त ही नहीं हो पाते। राग का तार धन को, क्रोध का तार शत्रु को, मोह की आसक्ति का तार परिवार की तृष्णा को बाँधता है। अतः खण्डशः बंधन अस्थायी है, वह कभी शाश्वत सुख को बाँध नहीं सकता। जरूरत यह है कि पहले तत्तत् विषयों में बँधी रस्सी को छुड़ाया जाय। वैराग्य व विचार रूपी प्रयास से पुनः उसे ज्ञान व अनुराग के हाथों से एक में बँटा जाय। ममता की सारी रस्सियाँ जब खुली होती हैं तभी व्यक्ति सरल होता है क्योंकि उसमें तत्तत् विषयों की जटिलता नहीं होती। सरलता ही वृत्तियों को बटकर श्रद्धा की मोटी रस्सी बनाती है जिसमें सच्चिदानन्द के चरण बंध जाते हैं, और फिर कभी नहीं छूटते। सरल आदमी की श्रद्धा दृढ़तर हो जाती हैं क्योंकि वहाँ तर्क की कुटिलता नहीं होती।

जिस समय श्रीरामजी ने सुतीक्ष्णजी से कहा—कुछ माँगों! सुतीक्ष्णजी ने कहा—महाराज मैं तो सीधा-सादा आदमी हूँ मुझे पता ही नहीं कि क्या झूठा है? क्या सच्चा है? इसलिए आपही दे दीजिए, जो आपको अच्छा लगे। भगवान् ने कहा—मैं अपनी रुचि से दूँगा तो हो सकता है कि तुम्हारी सरलता कुछ जटिल हो जाये अतः तुम्ही अपना अभीष्ट वर माँगो। तुम्हारी पूर्ण सरलता जिस बात की इच्छा करती हो जिसमें वक्रता न आवे, वही ले लो, और सुतीक्ष्ण ने अपनी सरलता को बटकर मोटी श्रद्धा की रस्सी बनाया क्योंकि भगवान ने उसे ज्ञान व प्रेम के दोनों सक्रिय हाथ दे दिये थे और प्रभु को उसने उसी मजबूत रस्सी से बाँध लिया। जीवन भर के लिए सरलता की सहज प्रवृत्ति पूर्ण को बाँधने के लिए ही होती है किन्तु जटिलता खण्डन की ओर बढ़ती है। जटिलता विषय के आनन्द को ही सब कुछ मान लेती है वह एक क्षण में ही सम्पूर्ण विराट को समाना चाहती है किन्तु सरलता में तो सबकुछ जैसे उस परम विराट में समाया हुआ ही रहता है। सरलता ही पूर्ण समपर्ण की जननी है जहाँ अभिमान सो जाय सदा के लिए। सरलता का प्रथम सोपान है कि जीवन जैसा है वैसा ही स्वीकार कर ले सहर्ष। कोई ननु, नच, न हो। बेझिझक

यहीं से सरलता का द्वार खुलता है। जहाँ से पूरा व्यक्तित्व ही निरभिमानिता के महल में प्रवेश कर जाता है। मैं कुछ नहीं करता किन्तु मेरे द्वारा कराया जाता है। यही भाव शाश्वत का सम्बन्धी है। अपने द्वारा किये गये कर्म की जहाँ मन बार-बार आवृति न करे, प्रशंसा का निदिध्यासन न होने लगे, बल्कि कर्म कराने वाले का ध्यान ज्यादा हो, वही व्यक्ति कर्म के अभिमान से मुक्त होता है। आदमी अपने द्वारा किये गये कर्मों की प्रशंसा बार-बार सुनना चाहता है। अपने द्वारा दिए गये लेक्चर बार-बार सुनना चाहता है। जो वह बोलता है, वह पुस्तक बन जाय और दुनिया उसे पढ़े तथा जीवन में उतारे। व्यक्ति की सहज प्रवृत्ति यही है कि—वह चाहता है कि दुनिया हर वक्त उसका नाम ले। मैं कितना महान हूँ। यदि कोई मेरा कृत्य नहीं सुनाता तो मुझे बड़ा कष्ट होता है और 'मैं' स्वतः गली में घूम-घूम कर अपना नाम व कृत्य की कथायें, सभायें बनाकर कहता है। यही प्रवृत्ति 'इगोइज्म' है। अहंता है यह, जो आदमी को सरल नहीं बनने देती। जटिल कर देती है पूरी जिन्दगी। स्वयं में उलझा हुआ आदमी अपने को ही भूल जाता है। तंग आकर पूछता फिरता है 'मैं' कौन हूँ। मुझे बताओ मैं कहाँ हूँ? कौन हूँ मैं? और किसी सद्गुरु की तलाश जारी होती है। जिन्दगी की इसी बनावट ने ही गुरुडम की प्रथा चलायी थी। जो समाज जितना ही जटिल होगा वहीं उतने पोप पादरी होंगे। यहाँ तक कि पोपों का राष्ट्रीयकरण होगा। देश का ही इस्लामीकरण होगा। शरीयत के कानून पास होंगे। जैसे किसी विगड़े बैल के पाँव में, नाक में, गले में, सींग में, सर्वत्र रस्सियाँ बाध दी जाँयें, ठीक से जोतने के लिये और वह फन-फनाता हुआ चले। भारत का भाग्य यही है कि यहाँ जटिलता नहीं है। भोलापन है अभी, इसीलिए धर्म का राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ है। जिस दिन भारत की यह सरलता जो ऋषियों की स्वतंत्र-विचार-पद्धति से विरासत में मिली है वह खतम हो जायेगी, तो जरुर यहाँ भी कोई धार्मिक कानून पास होगा। यहाँ का मजहब भी गजटेड

हो जायेगा। एक देश, एक फेस, एक वेश और एक केश अनिवार्य हो जायगा।

सरलता आत्मा की सहज अभिव्यक्ति है। बनावट देह का धर्म है। अन्तर्जगत् की शान्ति है सरलता एवं बहिर्जगत् की अशान्ति है बनावट। भीतर की शान्ति में जीने वाला व्यक्ति, बाहरी दुनिया की लाख-लाख चका-चौंध का भी ध्यान नहीं देता। भीतर का पूर्ण सरल आदमी बाहर के मानापमान को भी नहीं समझ पाता। वह चलता जाता है। अपनी धुन में मस्त हाथी की तरह और कुत्ते भौंकते रहते हैं। चारों तरफ से कोई फर्क नहीं पड़ता।

गंगा के किनारे श्रीमद्भागवत की कथा हो रही थी। वक्ता त्रिकालज्ञ, निस्पृह, ऋषि थे। वीतराग परमहंस पदप्रतिष्ठित सुनने वालों की भीड़ आने लगी। श्रोता भी कोई सामान्य नहीं। महान् ऋषिगण, बड़े-बड़े देवता। स्थूल जगत् के अन्तवर्ती-सत्त्व। कहीं भृगु, कहीं, अंगिरा, च्यवन, पराशर, व्यास, वशिष्ठ, दुर्वासा, अत्रि। बड़े-बड़े तत्वदर्शी आचार्य कथा सुनने आ रहे थे। किसी ने दुर्वासा महर्षि से पूछा—ऋषिवर ! आप कहाँ जा रहे हैं ? उन्होंने कहा—कथा सुनने। व्यक्ति ने कहा—आप क्यों कथा सुनने जा रहें है। भागवत में तो आप का बड़ा अपमान लिखा हुआ है। अम्बरीश की भक्ति के आगे आपकी शक्ति धराशायी हो गयी थी तथा तोनों लोकों में भागते-भागते आपकी दुर्दशा हो गयी थी। दुर्वासा जी मुस्कराये और थोड़ी भौहें टेढ़ी करके कहा—मैं भगवान की कथा सुनने जा रहा हूँ किसी मानापमान की नहीं। व्यक्ति ने कहा—लेकिन आप बचेगें कैसे ? आपके अपमान की कथा तो आयेगी और लोग आपकी तरफ देखकर मुस्करायेंगे तो आपको कष्ट नही होगा। महर्षि ने दृढ़ होकर कहा—कष्ट तो नहीं होगा किन्तु थोड़ी सीख अवश्य मिलेगी, थोड़ी मन की चिकित्सा हो जायेगी कि दुर्वासा ! फिर किसी भक्त का अपमान मत करना नहीं तो उससे भी बदतर दशा होगी, जैसा सुन रहा है।" और प्रसन्नतापूर्वक महर्षि गंगा-तट की ओर चले गये। जिसका

जीवन सरल हो, निरभिमान हो, वही मानापमान से शिक्षा भी ले सकता है। सब नहीं। और फिर ब्रह्म के साथ जुड़ी हुई जीव की कथा, जीव की कथा नहीं होती ब्रह्म की ही कथा होती है। जिसका दुनिया आदर करती है। समुद्र के वक्ष:स्थल पर खेलती हुई लहर की कथा क्या है ? पिता के बक्ष:स्थल पर खेलते हुए शिशु की कथा क्या होगी ? स्वामी की सेवा में तल्लीन उस सेवक की कथा क्या होगी ? वह तो मालिक की ही कथा होगी। पिता की ही कथा होगी, समुद्र की ही कथा होगी।

जिस समय भगवान श्रीरामचन्द्र साकेत-गमन करने लगे तो हनुमानजी को बुलाया। कहा, प्यारे हनुमान ! तुमने यहाँ मेरी बड़ी सेवा की, अब तुम क्या मेरे धाम मेरे साथ नहीं चलोगे ? हनुमान जी ने चरण पकड़ लिये, और कहा—प्रभु ! जब तक आपकी रमणीय कथा, इस लोक में रहेगी तब तक मेरे प्राण इस शरीर में निवास करते हुए यहीं रहना पसन्द करेंगे। मुझे आपकी कथा परम मधुर लगती है। आपकी प्रेममयी कथा सुनकर मैं क्षण-क्षण परमानन्द में डूबता, उतराता रहता हूँ। इसलिए यह सुख छोड़कर वैकुण्ठ जाने की भी इच्छा नहीं है। कथा ही आपका पल-पल सन्निधान प्रदान करती है। प्रभु मुस्कराने लगे। तब तक किसी ने कहा—प्रभु ! हनुमान जी इसलिए आपकी कथा सुनना चाहते हैं क्योंकि उसमें इनकी भी कथा है। अपनी कथा सुनना कौन नहीं पसन्द करता। लक्ष्मण जी ने कहा—क्यों हनुमान जी क्या ऐसी ही बात है ? हनुमान जी ने सिर झुकाया और कहा—हाँ प्रभु ! मेरी कथा तो है किन्तु आप से जुड़ी हुई है। प्रियतम राम से जुड़ी हुई हनुमान की कथा हनुमान सुनना पसन्द करता है। अकेले हनुमान की भी कोई कथा है ? वह तो मात्र सांसारिक-व्यथा है। हनुमान राम से अतिरिक्त कुछ नहीं, अलग कुछ नहीं, अन्य का कुछ नहीं, स्वयं में भी कुछ नहीं। मैं सदा स्मरण रखना चाहता हूँ आप से मिली हुई अपनी कथा ! क्या कभी भूल पाऊँगा उसे ?

जिसका स्मरण आज भी शरीर को पुलकित कर देता है। वह आपका प्रगाढालिंगन। क्या यह सिर भूल पायेगा कि कभी इस पर आपके करकमल विराजमान हुए थे ? क्या भूलूँगा कभी कि आपने मुझे मुद्रिका देकर सनाथ किया था। वह पल-पल प्रेमदान ! क्या आप चाहते हैं कि मैं भूल जाऊँ ? नाथ ! आपसे जुड़कर मेरापन आप ही हो गया है। मुझसे जो कुछ कर्म बन जाते हैं वह आपका ही चरित्र है। आपके चरित्र से अतिरिक्त न मैं हूं न मेरी कथा। कहते-कहते मारुति के नयनों में जल भर आया। शरीर रोमांचित हो गया और प्रभु ने प्रेमालिंगन में बाँध लिया अपने परम स्नेही को। वस्तुतः हनुमान का विग्रह श्रीराम का चरित्र ही है तभी तो गोस्वामी जी ने हनुमानचालीसा को भी हनुमज्जस न कहकर रघुवरविशदजस ही कहा है।

सच ही है। अपने संकुचित स्वार्थ में अहं-ग्रस्त जीव का व्यक्तित्व यश नहीं अपयश ही होता है। यश तो मात्र उस परम शाश्वत् से मिल कर ही प्राप्त करता है। निर्गलित-अभिमान होकर। और यह सरलता के द्वारा ही सम्भव है। सरलता स्वयं ही सद्गुरु है। जहाँ कोई हलकापन नहीं। जहाँ गहराई ही गहराई है। छिछलापन नहीं। जहाँ जागृति ही जागृति है, बेहोशी नहीं। जहाँ जीवन ही जीवन है। शाश्वत जीवन।

दृग-रूपसी से

(१)

भूली ललकार गिरे बरछी कृपाण ढाल,
भंग हुए बाण छूटी शिञ्जिनी कमान की ।
कितने ही सिद्ध–मुनि–योगी–शूरमा–प्रवीर,
हो गये अचेत छूटी गाँठ अभिमान की ।
'भास्कर' भाव गिरे, ताव गिरे, पाँव गिरे,
नाम ग्राम से गिरे हैं कितने ही मानकी ।
रूपसी तुम्हारी आँख में कहाँ का ब्रह्मफाँस,
बावनी सी बन गयी भावना जाहान की ।

(२)

दूर से ही देख घूर–घूर के समीप नाव,
कितने ही भूल गये भौंह के घुमाव पे ।
खड़े–खड़े कितने ही रूप सरिता के तीर,
ताकते रहे भंवर–भंगिमा घुमाव पे ।
कच से विकच बादलों को ही विलोकते-से,
झूम गये कितने ही मद–उफनाव पे ।
'भास्कर' गये आर–पार किन्तु हार गये—
कितने ही गाँव दृगरूपसी के भाव पे

(३)

फ़ूल मे फँसी है सारे कुञ्ज की अमन्द प्रभा,
मधु में मधुप की फँसी है, नाव प्रान की ।

गात में फँसी है आत्मा की अलवेली-कान्ति,
जिसमें फँसी है शुद्ध-चेतना महान की।
'भास्कर' सृष्टितार फँसे एक-एक में हैं,
जिन्हें सुलझाती धार मन के कृपाण की
रूपसी तुम्हारी आँखि में फँसी है मन पाँख,
कवियों की कवितायें शेरें शायरान की॥

(४)

लोटते चरण—रज में हैं कितने ही शूर,
कितने ही क्रूर-कामुकी दबें हैं काँख में,
भीत बहते हैं पवमान जिसकी भुजा से,
काल डरता जिसे कि आ न जाये माख में,
भस्म हैं रमाये जो अकाम शक्ति मान जो कि,
क्षार कर सकते हैं सृष्टि फूँक-फाँक में।
'भास्कर' झूलते हैं वे भी लाल डोरे बने,
ऐसी मनोहारी रूपसी की मस्त आँख में।

(५)

एक आँख पे लगी थी आँख श्रीवशिष्ठ जो की
इन्द्रिय समेट जो कि सृष्टि को छकाये थे।
हार गये विश्वामित्र राजनीतियों-समेत,
तुच्छ जान राज्यशक्ति तप को सिधाये थे।
'भास्कर' प्रतिकाररहित किया तप होता,
घातक निजत्व का न इसे जान पाये थे।
अन्त में इसीलिए तो साधना-अमन्द-ज्योति
मेनका की मद भरी आँख ने बुझाये थे।

(६)

जिनकी सुदृष्टि का सुरेन्द्र चाहते झुकाव,
सत्यव्रती जो कि वज्रबाहन बलेश थे।

जिनकी अखण्ड–धर्म–धीरता–प्रवीरता पे,
रीझ सारथी हुए अशेष कमलेश थे।
जिनके कृपाण की कुधाक जग जाहिर थी,
साँग की धमक ने सुखाये देश–देश थे।
'भास्कार' एकही कटाक्ष पे मरे ये वीर,
गल गये जल गये जो कि भू अशेष थे।

(७)

पद कोकनद ऍड़ी पुष्पराज, विल्वफल
जोड़ रम्भा खम्भ-उर कटि शालशाख से।
ऊमर-सी नाभि वक्ष नीलगिरि पे अनार,
सेव-कण्ठ मुख-कञ्ज, आँख जम्बू-दाख से।
वन-कामिनी थी या तपोवन, च्यवन का था,
मग्न थे महर्षि साधना भरे विराग से।
'भास्कर' आँख खुली साधना हुई सफल,
देखा मिली आँख एक अप्सरा की आँख से।

(८)

आगम–निगम–मुनि–पुंगव–पुराण–शास्त्र
ऋषि–सर्वयोगी–सिद्ध–तार्किक–तामसी।
सबकी अखण्ड मर्म–भेदिनी निगाहों ने है,
छान डाली सृष्टि, सिर्फ देखा आँख की हँसी।
आँख के सहारे ही तो जीत पाये सुर मुनि,
आँख के सहारे ही है हारी सृष्टि-राक्षसी।
'भास्कर' आँख में हैं दिव्यगुण तो परन्तु,
दोष भी अखण्ड जो करे नरकवापसी।

(९)

आयाप्रेम कन्द सुसाकेत सरयू का तीर
जहाँ बालुका पै जमी सब्ज हरियाली है।

सरयू औ घाघरा हैं कामिनी के जंघयुग,
श्रोणिरूप संगम पे फैलती उजाली है।
'भास्कर' किन्तु सेतु कामी का बलिष्ठ-कर,
निर्मम हो रौंदता उरोजों की गुलाली है।
हाय! भग्न कूल के वसन त्रस्त वीचि-कच,
मूर्च्छिता है, नग्न पड़ी यौवन की प्याली है।

(१०)

आकुल तरंग बिनाऽलिंगन न शान्त होती,
फूल उठता है सिन्धुवक्षमुक्तलास में।
स्वाति की न प्यास, पपिहे को प्रेंयसी की प्यास,
बोल-बोल ढूँढता वसन्त के विलास में।
प्रेंम-रस-माधुरी से माते निंदियारे-फूल,
खिल जाते 'भास्कर' प्रेंमी के प्रकाश में।
नींद नहीं आती बिन सोये कलिका के संग,
इसीलिए रात बन्द होते भौंर पाश में।

(११)

'भास्कर' ताप हो जलाता, हो गलाता हिम,
किन्तु आशा निष्फल न होती कर्मयोगी की।
एक लय, राग हो अमन्द ध्यान हो अखण्ड,
वाणी महामंत्र बन जाती भक्त-योगी की।
पावन हो प्रेंम यदि सिसकियाँ हों सानुराग,
आहें-परमाभ बन जाती हैं वियोगी की।
फैलता सहस्रसूर्यचन्द्र-सा महाप्रकाश,
अश्रु हेर लेते अमराई प्रेंमयोगी की।

'भक्ति-भागीरथी' से—

कोई घर-बार, कोई पुर-परिवार, कोई,
राज दरबार छोड़ बन को सिधाये हैं।
कोई जाति–धर्म–कुल–गौरव–गुमान–ज्ञान,
मान–मरजाद छोड़ किङ्कर कहाये हैं।
कोई लोक-लाभ, परलोकसुखलाभ छोड़,
चार-फल संग सतसंग पै लुटाये हैं।
सत्य, 'भास्कर' महाप्रभु ही स्वधाम छोड़
सन्त बनने को पुण्य मेदिनी पै आये हैं॥

(२)

तुलसी गली में तुलसी के कुञ्ज बीच भव्य,
तुलसीश–मन्दिर में तुलसी चढाइये।
शीश-राखि तुलसी पुनि तुलसी प्रसाद मुख
मेजि रसना सों राम-राम रट लाइये।
तुलसी की कण्ठी कण्ठ-माल तुलसी की कर
तुलसी सम पावन ह्वै वैष्णव कहाइये।
भगवद्रूप सबभाँति तुलसी को ह्वै,
तब कहूँ तुलसीकृत मानस लगाइये॥

(३)

देश-विदेश-सुदेश-कुदेश में, काहुँहि भेस धरै किन कोही,
जाति-सुजाति-कुजाति-विजाति में, रक्त विरक्त रहै किन ओही
'भास्कर' बानी-सुबानी-कुबानि कुमन्द सुज्ञानी कहै किन सोही
राम कथा जो कहै अनुराग सों रामहुँ ते प्रिय लागत मोही॥

(४)

ऐ ह्री ! किशोरी, कृपारसभोरी निहारि महा नघ कोप न कीजै,
मेरे हिये न निवास है रावरो, काम कुरोग लग्यो मन छीजै।
ज्ञान-विराग झरैं मुख ते पै जु एकहुँ कोर हिये की न भीजै,
स्वामिनि ! हेरि गरीबता मोरि कृपामयि बेगि कृपा क्यों न कीजै ॥

(५)

भूलि गयो भव-भाव-विचार, विलोकि सुभावसुशीतलताई,
छूटि गयो लिखिवो छल छन्द लखी जबसे तुलसी की लिखाई।
'भास्कर' दास करै कविता किमि बात कछू हिय बीच न, भाई
दूरि भई मन की कविता, मन में बसी मानस की कविताई ॥

(६)

नैन विहीन भये विल्वमंगल प्रेम में पागल हो गइ मीरा,
त्यागि दियो घरनी तुलसी, पुनि फूँकि दियो घर-बार कबीरा
रूप-सनातन चोकर फाँकि भजे हरि नाम सो कालिन्दी-तीरा,
'भास्कर' प्रेम-अधीरन को तृन लागत है धन धाम शरीरा ॥

शीश पै सहस्रमुख मुकुट बने हैं घोर,
कण्ठ पञ्चशतमुख हार है भयावनो।
कटि में त्रिशतमुख आड़बन्ध बाँधे शत,
मुख है केयूर, हाथ कंगन पचासनो।
पैंजनी पचीसमुख नवमुख उपवीत,
पाँचमुख पटुको, त्रिमुख है अँगूठनो।
'भास्कर' लसे अंग-अंग में अनन्त मुख,
भोलानाथगात में भुजंगमुख है घनो।
और आप पाँच-मुख पिता-पास चार मुख,
पूत के छःमुख औ गजाधिपवदन हैं।
शिष्य दशमुख नाना-गन के अनंत मुख,
बाहन अनेकमुख, भीषण रदन हैं।

भोलानाथ मुख की जमात के महान्त बड़े,
मुख बाये सभी घर में न अन्न-कन हैं।
'भास्कर' मात अन्नपूरना न होती यदि,
भूखों मर जाते, सभी भूख के सदन हैं।

(८)

माथ पै मुकुटमणि शीश घनश्याम सो हैं,
भौंह में कमान बरुनी में बानधर है।
पलक में प्रेमप्राण, पुतली में बल्लभ जू,
आलीदृगकोर में धँसे अपांगवर हैं।
मुख में महेश वन्द्य रसना में रघुलाल,
अधर पै अरुणेश, कण कलाधर हैं।
चिबुक कपोल लगी छाप रसकेलिकन्द,
हास में दिनेश–कुल–कञ्ज–प्रभाकर हैं।
कण्ठ कोशलेश के कुमार भुज बन्धु प्रिय,
वक्ष, कौशिला के वच्छ, हिये राजवर हैं।
पृष्ठ धर्मधीर चक्रवर्ती के छबीले छैल,
नाभि मिथिलेशनन्दिनी के मानवर हैं।
'भास्कर' रसराजलसे कटिदेश पुष्ट,
रसिकेश उरु, सो नूपुर नटवर है।
तन में तरुण, मन प्राण में मधुर — श्वास,
श्वास सीयनाथ रोम रोम—राम वर हैं॥

(९)

भव - भ्रम - विनाश कर विभव बढाते हुए,
भारत के भाग्य का पराभव भगाता कौन ?
जड़ता - निराशा–भरे तम - लोक - मानस को,
मानस - सुधा का मानसर - सा सजाता कौन ?
दलित - गरीब - गिरि-बनचरों की बात भी क्या,
लंक तक को भी रामरंग में रंगाता कौन ?

'भास्कर' आते नहीं दास तुलसी के यदि,
तुलसी - दल संस्कृति का जग में बँटवाता कौन ?

(१०)

झेलता था म्लेच्छ लुंठकों की दासता—प्रचण्ड
जलता था राष्ट्र भेद - भ्रम - दावानल में।
ऊँच - नीच - वर्ग - सम्प्रदाय - घृणा - द्वेष - महा
जाल—मध्य लोक मछली सा फँसा छल में।
'भास्कर' शान्ति–वधू हरण हुई थी, नीचता का
नग्न - नर्त्तन मचा था आर्य—स्थल में।
ऐसे घोर काल में प्रचण्ड रामबाण–सा,
प्रकट हुआ लाल हुलसी के 'स्नेहाञ्चल में॥

(११)

विधि ने बनाई शम्भुशक्ति ने जमाई—
ऋषियों ने की जुताई, विष्णु देव ने बुबाई की।
श्रुति ने सिंचाई की, निकाई तार्किकों ने—
आगमों ने यत्र–तत्र थी रोपाई की।
'भास्कर' धर्म–भूमि में बढ़ी जो भक्ति शाल्य,
व्यास–बाल्मीकि ने सुगन्ध सरसाई की।
मानस की थाल में सजा के तुलसी ने उसे,
सौंप लोकमानस को राम से सगाई की॥

(१२)

राम हुए रामानन्द ब्रह्मपुत्र नरहरि,
बाल्मीकि बने, जिनके सुशिष्य तुलसी।
विप्र आत्मा–राम पिता शील-सदाचार-निधि,
मातृ–मूर्तिमती, वात्सल्य–भाव हुलसी।
'भास्कर' श्रुति–शास्त्र–पथ अलोकित हुआ,
कण्ठ–कण्ठ मानस की मुक्तावली सुलसी।
ऊँच–नीच–सत्व–देव–दानव–मनुष्य सर्व—
द्वन्द्व–मध्य जाकी काव्यकला हुई पुल–सी।

(१३)

विधि का कमाल, भक्ति-भाल पै गुलाल,
प्रेम-पाटल की डाल कविता-कला-रसाल है।
सन्त-रस-हाल, ज्ञानी-वृन्द शशि भाल,
'भास्कर' भव जाल-कीच-शुष्क उर ताल है।
श्रुति की दुशाल ओढ़े, संस्कृति-सुबाल के—
करों में रघुलाल जू के पूजन की थाल है।
हुलसी का लाल, शिव—गिरिजा का पाल,
सारे जग का जमाल, रत्ना का जयमाल है।

(१४)

वात्सल्य हुलसी औ चुनिया का विभु हुआ,
स्नेह कौशल्या का या उमा का ज्यों सुवन में।
आत्माराम का महत्व भी ऋषभ रुद्र हुआ,
पुत्र अग्रपूज्य हुआ जिसका भजन में।
गुरु-शिष्य के प्रभाव की तो बात पूछिये न,
एक बात बार-बार फूलती है मन में।
रत्नावली के महारत्न का प्रकाश आज,
'भास्कर' को भी मात करता भुवन में।

(१५)

भीख माँग के जिया पै झोली जन-मानस की,
मानसीय-मुक्ति-महामणियों से भर दी।
जिन्दगी अभाव की विरासत मिली थी पै,
प्रणति-विश्व-रंकता समूल नष्ट कर दी।
'भास्कर' भारत उऋण कभी होगा नहीं,
भक्त-कवि ने जो उपकृति शीश धर दी।
रामराज्यप्रेमसुधानिधि की आनन्द चाह,
धरा के अशान्त लोकमानस में भर दी॥

(१६)

बालपन से ही कष्ट झेलते रहे औ साधु—
वेष में भी दैन्य–दुख के ही नाम हो गये ।
दीन हो ललाये विललाये द्वार–द्वार कभी,
मुट्ठी भर पाये, बिन पाये कभी सो गये ।
'भास्कर' मार–मार कही पंडितों ने जिसे,
पुस्तक लिए लिए फिरे, कहाँ–कहाँ गये ।
धन्य–धन्य तुलसी तुम्हारे उसी काव्य से तो,
आज लाखों लोग यहाँ लाखपति हो गये ।

(१७)

सियाराम की पवित्र भक्ति जो समाई,
सियाराम का स्वरुप सारा विश्व दिखने लगा ।
मोह का भुजंग डँसता था बार–बार कभी,
उसको भी ज्ञान का गरल चढ़ने लगा ।
'भास्कर' सीतानाम का प्रताप देखो,
दैन्यदाप, दावानल सोभ लिखने लगा ।
तुलसी को लोग कहते थे वनघास किन्तु,
दास बन वही विश्वास बजने लगा ।

(१८)

दिया नहीं रोटी दुनिया ने जिसे आदर से,
नाम पे उसी के लाखों दानियों के खाते हैं ।
जिसे कहते थे कर्महीन औं आचार भ्रष्ट
नाम ले उसी का हो आचार्य पुजवाते हैं ।
जाने का प्रभाव तुलसी की साधना का रहा,
गली–गली गांव–गांव 'भास्कर' गाते हैं ।
रामनाम का मिला आधार जिन्हें जीवन में,
वही निराधार के आधार बन जाते हैं ।

(१९)

अभी नहीं और बढ़ने दो कलि का प्रभाव,
विश्व में महान् हाहाकार मच जायेगा।
काट बेटों बेटियों की बोटियाँ बेचेगें लोग,
पेट भरने को रक्तमांस बच पायेगा।
'भास्कर' शव भी न प्रेम का मिलेगा सद्-
भाव धर्ममात्र त्राहि-त्राहि चिचियायेगा।
ऐसे घोर काल में बनेगी नाव राम-कथा,
और तुलसी का रामनाम काम आयेगा॥

(२०)

तु से हैं तुरीय राम, ल से लक्ष्मणलाल
सी से सीता मातु दासरूप हनुमान हैं।
चारों के प्रकृष्ट प्रेम का समीकरण नित्य,
शाश्वत् प्रकट सन्त रूप में सुजान हैं।
नाम—सुधाह्लद में समाए हुये मीन भक्त,
रामासक्ति-मुक्ति श्रुति-शास्त्र में प्रमाण हैं।
लोक के आलोक तुलसी गोसाँई 'भास्कर'
लोकवन्द्य दासलोकजीवन के प्राण हैं।

(२१)

रास में श्याम समुद्र भये अरु राधा बनी रस की गहराई।
गोपी बनी वर-वीचि जहाँ शिव नारद की मति थाह न पाई।
'भास्कर' काह कहै व्रज को रस मोहन मोहनी की मधुराई।
श्याम संयोग में जोरन को पर राधा वियोग में बोरन आई॥

(२२)

भास्कर' देव-सुता बनी माधवी पै झट माधव की पटरानी।
छूटी न जो रसराज ने बाँधी पीताम्बर में प्रिय चूनर-धानी॥
श्याम के रंग में श्याम भई ब्रजराज पै ऐसी भई री दीवानी।
पै जु लखी जब राधा को रूप लजाई के कालिन्दी ह्वै गइ पानी॥

पू० स्वामीजी के भावी प्रकाशन

(१) क्रान्ति - पाथेय (काव्य)

(२) प्रेम - पाथेय (काव्य)

(३) भवाटवी (काव्य)

(४) भावाम्बिका (काव्य)

(५) रामहिं केवल प्रेम पियारा (प्रवचन)

(६) भावालोक (स्फुट रचनायें) (काव्य)